दूरभाप : (0145) 33739

मध्यमा प्रतिपदा

शोध, साहित्य एवं समाज-सुधार के क्षेत्र में
वैज्ञानिक सोच की पत्रिका

वर्ष 1 अंक 3 जनवरी 1999

सम्पादक
बी. एस. सहवाल
परामर्श
डॉ. चमन लाल रैना

फाउण्डेशन ऑफ इण्डोलोजी एण्ड कल्चर, अजमेर के सौजन्य से प्रकाशित

इस अंक में-

पृष्ठ सं.

1. सम्पादक की कलम से — क

2. कमल : भारतीय जीवन का आदर्श —धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल — 1

3. चार चीजों का दान—(डॉ. रघुनाथ सिंह कृत बुद्ध कथा के आधार पर) — 5

4. सन्त कवि रविदास —श्रीमतीं जया सिब्बू — 6

5. अश्वघोष : कवि और कृतित्व—डॉ. चमनलाल रैना — 8

6. पर्यावरण, प्रदूषण और मानव समाज —धम्मप्रिय श्री बी. एस. सहवाल — 14

7. भारतीय संस्कृति का महत्व—डॉ. प्रदीप त्रिखा — 21

8. शब्द, अर्थ और कविता—श्रीमती उषा सहवाल — 22

9. पांखुरी-पाँखुरी मन (पुस्तक-समीक्षा) — 24

10. कुछ खास खबरें — 29

द. फाउण्डेशन ऑफ इण्डोलोजी एण्ड कल्चर, अजमेर
(भारत विद्या एवं संस्कृति प्रतिष्ठान)

विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के प्रति प्रतिबद्धता तथा मानवीय मूल्यों के धरातल पर नवीन समाज की संरचना—बस यही मूल मंत्र है फाउण्डेशन का।

धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल
संरक्षक एवं अध्यक्ष

मध्यमा प्रतिपदा (द्विमासिक)

सहयोग राशि : 55.00 रु. वार्षिक, 300.00 रु. दस वर्षीय

मनीआर्डर अथवा चैक द्वारा, जो अजमेर स्थित बैंक में भुगतान योग्य हो, भँवरसिंह सहवाल के नाम से सहयोग राशि 43/2117, सम्मादिट्ठि, धोलाभाटा (निराला नगर) कोलोनी, अजमेर के पते पर भिजवायें।

विशेष : इस पत्रिका में छपे लेखकों के विचारों से सम्पादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

सम्पादक की कलम से

दार्शनिक चिन्तक की वैज्ञानिक प्रक्रिया—

चिन्तन जब दार्शनिक मान्यताओं में बदल जाता है और रूढ़ हो जाता है तो वह दुविधा ही पैदा करता है। जिस प्रकार रुके हुए पानी में सड़न पैदा हो जाती है, उसी प्रकार रुके हुए चिन्तन की दशा है। अतः चिन्तन की प्रक्रिया में गतिशीलता बहुत जरूरी है। गतिशील सोच ही आगे बढ़ता है, प्रगति का मार्ग बनाता है, उसी से दिशा मिलती है, दशा सुधरती है। दर्शन के क्षेत्र में तो यह और भी अधिक सही है। जीवन और जगत् को उसके सही परिप्रेक्ष्य में जानना-समझना ही दार्शनिक चिन्तन की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। दर्शन का अर्थ ही देखना है, अनुभूति के स्तर पर उतर कर जानना है, अनुभवन है। अनुभवन में 'भवन' का अर्थ हैं 'होने की क्रिया' और 'अनु' का अर्थ 'पीछे' अर्थात् सूक्ष्म स्तर पर इस होने की क्रिया का निर्लिप्त भाव से अनुगमन करना, उसके पीछे-पीछे चलना, देखना कि क्या हो रहा है—कैसे हो रहा है, अनुभवन है।

मानने और जानने में काफी अन्तर है। मानने का आधार दूसरे की अनुभूति है अथवा कल्पना है या अनुमान है। जानना स्वयं का ठोस अनुभवन है। और धर्म के क्षेत्र में यह अपना अनुभवन ही काम का है। दूसरे के अनुभवन से केवल प्रेरणा मिल सकती है, मार्ग मिल सकता है, गन्तव्य नहीं। उसके लिए तो स्वयं को ही चलना पड़ेगा। दूसरे ने गुड़ चखा है तो यह उसका अनुभव है। उसके अनुभव से हम गुड़ का स्वाद कैसे ले सकते है? उसकी लाख प्रशंसा पढ़ने-सुनने से हम उसके मिठास को कैसे जान सकते हैं? उसे स्वयं अपनी स्वादेन्द्रिय पर उतारेंगे तभी तो हमें मालूम होगा उसका असली स्वाद। जानने की प्रक्रिया श्रमसाध्य है, मानने में कोई श्रम नहीं करना पड़ता। जानने की यह प्रक्रिया ही अनुभवन है। आन्तरिक अनुभवन से धर्म की धारा स्वतः फूटती है जिससे मन का सारा क्लेष-सारा कलमश धुल जाता है, जीवनाचरण स्वच्छ हो जाता है, संयमित हो जाता है, ऋजु हो जाता हैं। जीवन करुणा, मैत्री, मुदिता तथा समता-समरसता से भर जाता हैं और तब कोई भी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समुदाय सच्चे अर्थो में धार्मिक होता है।

क्या है यह धर्म ?

वस्तुतः जगत् में कुछ भी स्थायी नहीं है। जीवन में कष्ट-ही-कष्ट हैं, दुःख-ही-दुःख है। क्या जीवन में अप्रिय स्थितियों से गुजरना-अप्रिय लोगों से संयोग होना दुःख नहीं है, क्या जीवन में प्रिय व्यक्तियों, वस्तुओं, स्थितियों से बिछुड़ना दुःख नहीं है, क्या रोगग्रस्त होना दुःख नहीं है, क्या जराग्रस्त होना दुःख नहीं है, क्या तरह-तरह के मानसिक दबाव-तनाव-चिन्ताएँ दुःख का पर्याय नहीं है, क्या दुराव, दुर्भाव, दुश्मनी तथा टकराव दुःखदायी नहीं है? जीवन में अनचाही

बातों का घट जाना भी तो दुःख ही है, मनचाही बातों का न होना भी तो कष्ट ही हैं और अन्त में मृत्यु का घटित होना भी तो दुःख है। यह पल-पल बनना और बिगड़ जाना, यह उत्पन्न होना और नष्ट हो जाना, यह अस्थिरता का क्रम, यह क्षण-भंगुरता—ये जीवन की कठोर सच्चाइयां नहीं हैं तो और क्या है? इन सच्चाइयों का सामना करना ही धर्म है। इनसे भागना कायरता है। इन्हें भुलाने की कोशिश करना नशा है एल. एस. डी. की गोलियों का, मदिरा का या फिर भंगभवानी का। लोगों ने जीवन की इन सच्चाइयों से मुंह छिपाने के लिए संगीत की सृजना की, नृत्य का आविष्कार किया, भजन बनाये, कथाएं गढ़ीं और न जाने क्या-क्या किया। मौत की प्रक्रिया से क्षण-प्रतिक्षण अपने-आपको गुजरते हुए देखना किसे अच्छा लगता है! इसके लिए तो बड़े धैर्य की जरूरत है, बड़ी दृढ़ता की आवश्यकता है, बड़ी हिम्मत चाहिए। धर्म नाचने-कूदने वाले लोगों के बस की बात नहीं है।

धर्म किसी एक व्यक्ति या समुदाय विशेष का नहीं होता। वह तो समान रूप से सबका होता है। धर्म की तीन ही तो कसौटियां हैं सार्वजनीनता, सार्वभौमिकता, तथा सार्वकालिकता, बस। किन्तु नासमझ लोग उसे समुदाय विशेष में, देश विशेष में, काल विशेष में बांधने की कोशिश सदियों से करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। यह हमारा धर्म, यह तुम्हारा धर्म, वह उनका धर्म, यह बौद्ध धर्म, यह हिन्दू धर्म, यह मुस्लिम धर्म, यह ईसाई धर्म, यह प्राचीन धर्म, यह अर्वाचीन-आधुनिक धर्म, यह इस देश का धर्म वह उस देश का धर्म,—धर्म को खण्ड-खण्ड कर दिया। पर क्या धर्म खंडित होने जैसी चीज है? क्या उसकी व्यापकता को देश, काल तथा व्यक्ति के दायरों में बांधा जा सकता है? वस्तुतः जो समान रूप से सभी व्यक्तियों पर लागू नहीं होता, जो समान रूप से सभी देशों पर लागू नहीं होता, जो समान रूप से सभी कालों में लागू नहीं होता वह धर्म नहीं है। धर्म के नाम पर धोखा है। मौत जैसी चीज समानरूप से सभी व्यक्तियों, सभी देशों तथा सभी कालों में लागू होती है, वह हिन्दू पर लागू होती है, मुसलमान पर भी गोरे पर भी लागू होती है, काले पर भी; अमीर पर भी लागू होती है गरीब पर भी वह अतीत में भी लागू होती थी, वर्तमान में भी लागू होती है, भविष्य में भी इसी तरह लागू होती रहेगी, वह वहां भी लागू होती है, यहां भी लागू होती है। तो क्या मृत्यु धर्म नहीं है? है, लेकिन मनुष्य तो मुगालते में रहता है, मरण-धर्मा होकर भी वह उसकी प्रक्रिया का भीतरी अनुभव नहीं करता, न करना चाहता है और फिर भी धार्मिक बनाना चाहता है। यह कैसे सम्भव होगा?

धर्म की रक्षा का सवाल—

धर्म जैसी चीज को अलग-अलग समुदाय विशेषों से जोड़ना उसके विश्वव्यापी रूप को संकुचित करना है—उसका अर्थापकर्ष करना है और अब तक यही होता आया है। थोपी हुई अलग-अलग मान्यताओं, रूढ़ दार्शनिक चिन्तनों तथा

उन्हीं के अनुकूल बाह्य आचरणों को लेकर यह द्वन्द्व पैदा हुआ है जिसने न जाने अब तक कितने लोगों की जानें ली है, कितने घरों को उजाड़ा है। कितनी सभ्यताएँ नष्ट की है, कितनी खराबियाँ की हैं। एक समुदाय कहता है कि ईश्वर हैं, दूसरा कहता है कि ईश्वर नहीं है। और यदि ईश्वर है तो लोगों ने अपने-अपने अनुसार उसको अलग-अलग रूपों में बांट लिया है। झगड़ना है तो उसके काल्पनिक रूपों को लेकर ही झगड़ना है। संघर्ष करना है तो उसकी पूजा के तौर-तरीकों को लेकर ही संघर्ष करना है। अपना तथा अपने समुदाय विशेष का हुद्दा जो जमाना है, उसे सर्व श्रेष्ठ जो सिद्ध करना है।

सच में तो धर्म के नाम पर सदियों से मनुष्यों ने मनुष्यों का शोषण किया है। यह क्रम आज भी रुका नहीं है, यथावत् जारी है। धर्म को समझने-समझाने के लिए बीच-बीच में कई मनीषी दुनिया में आये और चले गये। फर्क कुछ भी नहीं पड़ा। वस्तु-स्थिति जहां-की-तहां है। धर्म के गढ़रियों ने मनुष्यों को भेड़ें समझी हैं। वे अपने बाड़ों से बाहर उन्हें निकलने ही नहीं देते। और यदि कोई भेड़ दूसरे के बाड़े में निकल कर चली जाये या हाँक ली जाये तो अधर्म हो जाता है, धर्म के गढ़रिये आपस में लड़ पड़ते हैं, एक दूसरे के बाड़ों में आग लगा देते हैं, खून-खराबा हो जाता है। असल में जिसके बाड़े में जितनी अधिक भेड़ें होगीं, वही तो उतना ही बड़ा-उतना ही सम्पन्न गढ़रिया होगा। और लोगों में तो सबसे बड़ा, सबसे सम्पन्न होने की होड़ लगी है। अतः अपनी भेड़ों की संख्या बढ़ाना और उसे किसी भी हालत में कम नहीं होने देना ही गढ़रियों का एक मात्र धर्म है। इससे उनकी रोजो-रोटी चलती है, सम्मान मिलता है। ये गड़रिये क्या रक्षा करेंगे धर्म की? ये तो स्वयं ही असुरक्षित है, राग-द्वेष से पीड़ित है, जरा-रोग से दुःखी हैं, मरने से डरते हैं। धर्म तो अमृत है, अपने-आप में सबल है, किसी को उसकी रक्षा करने की जरुरत नहीं है। असल में जिन लोगों का धर्म ही गढ़रियों का है वे धर्म के गढ़रिये कैसे हो सकते हैं? अतः इन गढ़रियों के चंगुल से बाहर निकलना, इन बाड़ों से मुक्त होना और खुले में सांस लेना पहली आवश्यकता है। तभी मनुष्य, मनुष्य होगा। सम्प्रदायों का होना बुरा नहीं है। भिन्न जलवायु तथा भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल उनके जीने के तौर-तरीकों में भिन्नता स्वाभाविक हैं। पर धर्म एक है—मनुष्यता एक है।

धर्म-परिवर्तन : एक मानसिक उक्षिप्तता—

धर्म को हमने बहुत उथले रूप में लिया है। इससे मनुष्य जाति को बहुत हानि हुई है-हो रही है। यह धर्मान्तिरण या धर्म-परिवर्तन क्या है? क्या धर्म भी परिवर्तन होने जैसी चीज है? जो ऋत है, कुदरत का विधान है, वह भी क्या मनुष्यों के एक सम्प्रदाय-समुदाय से दूसरे सम्प्रदाय-समुदाय में सम्मिलित हो जाने से बदल जाता है? इससे तो मनुष्य का बाहरी रंग-रूप तक नहीं बदलता तो फिर

उसके अन्दर अणु-परमाणु में प्रवाहित धर्म कैसे बदलेगा ? उसका तो अन्तर्बाह्य उस समुदाय में भी परिवर्तन की सतत प्रक्रिया से गुजर रहा था और इस समुदाय में आने पर भी गुजर रहा है। उसमें कोई फ़र्क नहीं पड़ा। अतः यह परिवर्तन सम्प्रदाय-दरिवर्तन है, इसे धर्म-परिवर्तन की संज्ञा देना कतई गलत है।

वस्तुतः हमने धर्म और सम्प्रदाय को एक ही मान लिया है। इसीलिए भारत के संविधान में आये अंग्रेजी शब्द 'सेक्यूलर' का हिन्दी रूपान्तरण भी लोगों ने 'धर्म निरपेक्ष' कर दिया है जबकि उसका तात्पर्य सम्प्रदाय-निरपेक्षता से है। इस प्रकार कोई एक सम्प्रदाय का व्यक्ति किसी अन्य सम्प्रदाय के लोगों के धर्म-परियर्तन करने या करवाने की बात करता है तो वह धर्म के प्रति अपनी नासमझी का ही परिचय देता है। किसी भी पहुंचे हुए पुरुष ने धर्म की गहराइयों में उतर कर अपने अनुयायियों को दुनिया के दूरस्थ स्थानों में बसे दुःखी, असहाय, रुग्ण, अभावग्रस्त लोगों की सेवा करने और उनका जीवन-स्तर सुधारने का सन्देश अवश्य दिया होगा। पर क्या उसके सन्देशों की पालना उन्हें विना अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित किये नहीं की जा सकती ? क्या तलवार तथा आतंक के बल पर ही सिद्ध महात्माओं के पवित्र मकसद की पूर्ति की जा सकती है ? क्या किसी को इस तरह बदले बिना मुक्ति का मार्ग बताया जाना सम्भव नहीं है ? क्या इसके लिए मनुष्य जहां है, जिस समुदाय में है, उसी में उसका रहना जरूरी नहीं है ? और क्या वनवासी समाज के अभावग्रस्त शोषित, दलित, पीड़ित, उपेक्षित लोगों का एक सम्प्रदाय में ही इसी स्थिति में मरते-पिटते-खटते रहना उनकी स्थायी नियति है ? क्या वे अपनी राहत का दूसरा मार्ग नहीं अपना सकते ? क्या वे शोषण रहित अन्य मानव-सम्प्रदाय में, जहाँ उन्हें स्नेह और सम्मान मिलता है, जीवन-स्तर को उठाने में मदद मिलती है, सम्मिलित नहीं हो सकते ? इसमें किसी को आपत्ति क्या है और क्यों है ? स्वयं भी उन्हें दयनीय स्थिति से न उबारें और दूसरों को भी इसमें मदद न करने दें—यह तो सरासर अन्याय है।

अब तो सोचना ही पड़ेगा कि एक समाज के लोग अन्य सम्प्रदाय में क्यों चले जाते हैं ? सिर-फिरे लोग दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को क्यों अपने सम्प्रदाय की ओर आकर्षित करते हैं ? और इसके लिए धर्म जैसी पवित्र चीज को बीच में क्यों लाया जाता है ? आज के इस विज्ञान और तकनीकी के युग में विश्व मानव-समाज निकट आया है। उसमें संघघन हुआ है। उसमें एकानुभूति का भाव जगाना मुश्किल नहीं है। अब तो जहां भी कमी, जहां भी अभाव, जहां भी आवश्यकता दिखाई दे वहां विभिन्न समुदायों के सम्प्रदायों के लोगों को मदद के लिए दौड़ पड़ना होगा। धर्म के स्वार्थ के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ-साम्प्रदायिक स्वार्थ को छोड़ना होगा। तभी सही अर्थों में धर्म का राज्य होगा, विश्व-बन्धुत्व की परिकल्पना फलीभूत होगी।

—✱—

कमल : भारतीय जीवन का आदर्श

□ धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल

भारतीय साहित्य, कला, संस्कृति, धर्म और दर्शन में कमल की बहुत बड़ी प्रतिष्ठा है। प्राचीन काल से ही भारत के कवि, कलाकार, मनीषी तथा साधक किसी-न-किसी रूप में इसे अपना आदर्श मानते चले आये हैं। भावुक कवियों से लेकर दार्शनिक शुष्क चिन्तकों तक का यह परम प्रिय रहा है। इसके अतिरिक्त सामान्य जीवन में भी यह उपयोगी रहा है। आइये, इसके इस महत्त्व पर किंचित विचार करें।

कमल समुद्र, झील, तालाब तथा नदियों के ठहरे हुए जल में पैदा होता है। इसकी जड़ जल के नीचे कीचड़ में होती है और तना सतह के नीचे तक जल के अन्दर रहता है। इसके पत्ते जल की सतह पर फैले होते हैं तथा पुष्प सतह से ऊपर खिला होता है। जल में पैदा होने के कारण ही कमल को जलज अथवा नीरज भी कहा जाता है। इसका तना मृणाल के नाम से ज्ञात है जो अपने अर्थ का स्वयं ही द्योतक हैं। यह तना दूध की तरह सफेद तथा मृपण होता है और इसके रेशे कोमल होते हैं। अन्दर नीचे से ऊपर तक इसमें कई सुराख होते हैं। इसकी सुपाच्यता के कारण घरों में यह सब्जी के रूप में काम में लिया जाता है। किन्तु मुख्य बात तो यह है कि इसकी सुकुमारता तथा मृपणता को लक्ष्य कर भारतीय परिवारों में प्राचीन काल से ही अपनी बेटियों का नाम मृणाल या मृणालिका रखने की परम्परा चली आ रही है।

कमल के पत्ते बहुत चौड़े होते हैं। जल-सतह पर इन फैले हरिताभ पत्तों पर पड़ी हुई ओस की बून्दें प्रातः कालीन बेला में मोती की तरह चमकती हुई दिखाई देती हैं। इन पत्तों को तोड़ कर पत्तल भी बनाई जाती है जिन पर खाना परोसा जाता है और शुभ समझा जाता है। विवाह जैसे अवसरों पर इन पत्तों का उपयोग इस रूप में प्राचीन समय से होता आया है। पत्तों के ऊपर होता है उनका सिरमौर कमल का पुष्प। कमल या पद्म हेमन्त और शिशिर को छोड़ कर अन्य सभी ऋतुओं में खिलता है--ऐसा माना जाता है। इसके कई भेद होते हैं। धन-वन्तरीय निघण्टु के अनुसार ये सात तरह के होते हैं, यथा-पुण्डरीक, नील कमल, रक्त कमल, कुमुद और छोटे तीन प्रकार के अन्य उत्पल।

साहित्य में इन कमलों का खूब वर्णन किया गया है। कवियों ने अपने काव्य ग्रंथों में इनका उपयोग नायक या नायिकाओं के विभिन्न अंगों की उपमा के रूप में किया है। कोकनद से नायक अथवा नायिका का सम्पूर्ण मुख-मंडल उपमित किया गया है क्योंकि कोकनद रक्त कमल होता है उसकी अरुणाई तथा रक्तिमता स्वास्थ्य, सुन्दरता, ताजगी एवं यौवन का प्रतीक है। कोकनद के अरुण

रंग के कारण ही युवा प्रेमी के नेत्रों की उपमा इस से दी जाती है। फिर अरुण रंग मादकता तथा प्रेम का भी प्रतीक है। इसी प्रकार कर्ण, हाथ (हथेलियां) एवं पद (चरण) की उपमा भी रोकनद कमल से दी जाती है और इसमें इसकी रक्ताभा के अलावा कोमल कमनीयता का भाव भी है। नील-कमल से, जिसे सौगन्धिक भी कहा गया है, नायक अथवा नायिका के नेत्रों की उपमा दी गई है। श्याम अथवा नील दीर्घ नेत्र सुन्दर माने जाते हैं, अतः उनकी उपमा के लिए नीलोत्पल को ही कवियों ने चुना है। नील रंग में मारक आकर्षण शक्ति होती है। अक्सर नीलोत्पल को उसकी सुन्दरता के कारण राजीव भी कहा जाता है। इसीलिए महाकवि तुलसीदास ने अपनी कवितावली में राम के नेत्रों की उपमा इससे दी है—

"राजीव लोचन राम चले
तज बाप को राज बटाऊ की नाईं ।।"

तुलसीदास ने राम के सम्पूर्ण सौन्दर्य को कंज अर्थात् कमल के माध्यम से ही उभारा है। देखिए इस सम्बंध में उनका यह पद कितना हृदयग्राही है—

"श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन, हरण भाव-भय दारुणम्।
कंज लोचन, कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुणम्।।"

यह तथ्य हैं कि प्रातःकाल से लेकर सांझ तक भ्रमर कमल के पुष्प पर मंडराता रहता है और उसमें से मधु-संचयन करता रहता है। साँझ होने के बाद जब कमल का पुष्प अपनी पंखुड़ियों को समेट लेता है तब भ्रमर भी उन्हीं में बन्द हो जाता है। यह सूरज का उगना, चेतना का जागना और कमल की पंखुड़ियों का खिलना; यह सूरज का डूबना, निश्चेतना का छाना और कमल की पंखुड़ियों का मुंद जाना—प्रकृति की स्वाभाविक गतिविधियां हैं। कमल के भाव को आधार बना कर देखिए कवि ने नेत्रों का चित्रण किस सरलता से किया है—

"नैन खिलें, खिल जायें कमल-दल,
नैन मुंदें, मुंद जायें कमल-दल,
नैन उठें रवि भरमा जाये,
नैन झुकें शशि शरमा जाये।"

समस्त प्राचीन संस्कृत काव्य साहित्य कमल के महात्म्य से भरा पड़ा है तथा उसमें कमल को लेकर नये-नये कवि-समय एवं धारणाएं निर्मित हुई हैं जिनका असर आधुनिक साहित्य पर भी देखा जा सकता है।

कमल का स्थान साहित्य में ही नहीं, कला के अन्य क्षेत्रों में भी है। प्राचीन काल से अपनी तूलिका और रंग के माध्यम से चित्रकारों ने जहा कमल की अनेक भंगिमाओं का चित्रण कागज-केन्वास पर अंकित किया है, वहीं मूर्ति तथा वास्तु

शिल्पकारों ने उसे प्रस्तर तथा भवन पर उकेरा है। ऐसा लगता है जैसे कमल के बिना उनकी कला-साधना अधूरी थी।

कमल की धारणा को यदि भारतीय धर्म अथवा संस्कृति से अलग कर दिया जावे तो उसका आधार ही समाप्त हो जायेगा। अतः उसके धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व पर भी थोड़ा विचार किया जाना अपेक्षित है। पौराणिक धार्मिक मिथ के अनुसार कमल की उत्पत्ति क्षीर सागर में शेष-शैय्या पर विश्राम करते हुए सृष्टि के पालन-कर्त्ता विष्णु की नाभि से हुई है। ब्रह्मा इसी कमल पर विराजमान् हैं। विष्णु के चार हाथों में से एक में कमल का पुष्प भी है। इस कमल में कमला अर्थात् विष्णु की पत्नी लक्ष्मी का वास बताया गया है अर्थात् कमला कमल वासिनी है। कमला किंवा लक्ष्मी धन तथा वैभव का प्रतीक है और कमल भी खुशहाली एवं समृद्धि का प्रतीक है। यद्यपि हमने प्रतीकार्थों को छोड़ दिया है किन्तु इससे कमल के महत्त्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में प्रतीक चिह्नों को वैज्ञानिक अन्विति देनी होगी अन्यथा उनकी सार्थकता से हम हमेश के लिए वंचित हो जायेंगे और हमारी संस्कृति मात्र प्राचीन चित्रों का पिटारा मात्र रह जायेगी जिसका पुरातत्वी महत्त्व तो होगा पर आधुनिक युग के जीवन से वह बेमेल हो जायेगी।

कमल का सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्व ही नहीं है बल्कि उसका दार्शनिक महत्त्व भी बहुत अधिक है। हठयोग दर्शन में शरीर में छह चक्रों की परिकल्पना की गई है जिसमें कमल के पुष्प को आधार माना गया है। पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहां पायु और उपस्थ के मध्य भाग में लगता है, वहां स्वयंभू लिंग बताया गया है जो एक त्रिकोण चक्र में स्थित है। इसे अग्निचक्र भी कहा गया है। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को सर्पिणी की तरह साढ़े तीन लपेटों में लपेटे कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। साधना-रत योगी की यह कुण्डलिनी शक्ति जब जाग जाती तो वह ऊर्ध्वगामी होकर छह चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार चक्र में प्रवेश करती है। ये छह चक्र हैं—

(1) मूलाधार-चक्र—यह चार पंखुड़ियों वाला कमल है जो पृथ्वी तत्व से बना है तथा गुदा द्वार के स्तर पर स्थित है।

(2) स्वाधिष्ठान-चक्र—इसको छह पंखुड़ियों वाला कमल कहा गया है जो अग्नि तत्व से बना है और जननेन्द्रिय के स्तर पर स्थित है।

(3) मणिपूर-चक्र—स्वाधिष्ठान के ऊपर नाभि के स्तर पर स्थित यह दस पंखुडियों वाला कमल है। इसका निर्माण जल तत्व से हुआ है।

(4) अनाहत-चक्र—यह बारह पंखुड़ियों वाला कमल है जिसका निर्माण वायु तत्व से हुआ है। यह हृदय के स्तर पर स्थित है।

(5) विशुद्धि-चक्र—इसे सोलह पंखुड़ियों वाला कमल कहा गया है। इसका निर्माण आकाश तत्व से हुआ है और यह गले (कण्ठ) के स्तर पर स्थित है।

(6) आज्ञा-चक्र—यह दो पंखुडियों वाला कमल बताया गया है। इसका निर्माण मन तत्व से हुआ है तथा यह आंखों की भौंहों के पीछे वाले स्तर पर स्थित है।

इन छह चक्रों के ऊपर अन्त में सहस्रदल चक्र है। यह हजार पंखुड़ियों का कमल कहा गया है जो मध्य मस्तिष्क में स्थित है। यह शिव का स्थान कहा गया है। इस प्रकार हठ योग तथा योग साधना प्रक्रिया में कमल का महत्व अक्षुण्ण है।

इसी प्रकार कश्मीर के शैव तथा शाक्त दर्शन में कमल को स्थान दिया गया है। इनके अनुसार 'श्रीचक्र' में कुल नौ चक्र हैं जिनमें से त्रिकोण चक्र अष्ठकोण चक्र तथा दोनों दस कोणीय चक्र और एक चौदह कोणीय चक्र अर्थात् ये पाँच चक्र तो शक्ति से सम्वंधित चक्र हैं और इनका स्वरूप अधोमुख त्रिकोण (△) है। शेष चार चक्रों में बिन्दु, अष्टदल कमल चक्र, षोड़शदल कमल चक्र एवं चतुरस्त्रा (वृत्त त्रय त्रिरेखात्मक) चक्र हैं जो शिव से सम्वंधित चक्र हैं। इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण श्री-चक्र की परिकल्पना में सातवां तथा आठवां चक्र क्रमशः आठ पंखुडियों एवं सोलह पंखड़ियों वाले चक्र हैं। इससे कश्मीर के शैव-शाक्त दर्शन में कमल की प्रतिष्ठा प्रतिपादित होती है। कश्मीर में कमल होते भी अधिक हैं। वहां की पद्मिनी स्त्रियों को इसीलिए पद्मगन्धा कहा जाता है।

कीचड़ से उत्पन्न होकर तथा जल में रह कर भी कमल कीचड़ तथा जल दोनों से ऊपर है। इस वात को लक्ष्य कर योगियों ने तथा साधकों ने परम स्थिति तक पहुंचे हुए व्यक्ति की उपमा कमल से दी है और इसका सर्व श्रेष्ठ उदाहरण मिथिला के प्राचीन राजा जनक को वताया गया है। वह संसार में सुख-वैभव के वीच में रहता हुआ भी उससे दूर है, उसमें डूबा नहीं है, ऊपर है। और इसीलिए उसे विदेह कहा गया है। अतः भारतीय साहित्य, कला, संस्कृति एवं दर्शन में कमल का स्थान असंदिग्ध रूप से वहुत ऊँचा है। वह भारतीय जीवन का आदर्श है।

—✱—

चार चीजों का दान

(कोलिय कन्या सुप्रवासा को भगवान् बुद्ध द्वारा दिया गया उपदेश)

—डॉ. रघुनाथसिंह कृत—

कोलिय जनपद का सज्जनेल निगम। पूर्वाह्न काल। भगवान् सुआच्छादित हुए। चीवर धारण किये, पात्र उठाया और भिक्षाचार के लिए चले। सुप्रवासा कोलिए कन्या के निवास-स्थान पर पहुंचे। आसन विछा था। भगवान् ने आसन ग्रहण किया।

कोलिय दुहिता ने अपने हाथों से भोजन परोसा। भोजन समाप्त हुआ। भगवान् ने पात्र से अपना हाथ खींच लिया। हस्तादि प्रच्छालन किया और आसन पर वैठ गये। कोलिय दुहिता एक ओर सविनय वैठ गयी।

'सुप्रवासा!' भगवान् ने कहा 'आर्य श्राविका भोजन कराती है। वे भोजन के साथ भोजन कर्त्ता को चार चीजों का दान और देती है।'

'भन्ते, वे कौनसी चीजें हैं?' सुप्रवासा ने उत्सुकता पूर्वक पूछा।

'आयु का दान पहली चीज है सुप्रवासा।'

'दूसरी भन्ते!'

'वर्ण का दान दूसरी चीज है।'

'तीसरी भन्ते!'

'तीसरी चीज है सुख का दान।'

'और चौथी?'

'वल का दान चौथा दान है।'

'आयु के दान का क्या प्रयोजन है? भन्ते!'

'आयु की दात्री उपासिका दिव्य और मानुषी आयु की अधिकारिणी होती है।'

'वर्ण के दान का?'

'वर्ण के दान से दानकर्त्री उपासिका दिव्य अथवा मानुषी वर्ण की अधिकारिणी होती है।'

'सुख का?'

'सुख की दात्री दिव्य किंवा मानुषी सुख की अधिकारिणी होती है।'

'और वल का?'

'वल की दान-कर्त्री उपासिका दिव्य अथवा मानुषी वल की अधिकारणी होती है।'

'भन्ते!'

'भोजन आयु देता है, कान्ति देता है, सुख देता है और वल देता है शरीर को, मन का। इसलिए सुप्रवासा, भोजन-दान कर्त्री भोजन करने वाले को इन चीजों का दान करती है।' (शेष पृष्ठ 13 पर)

सन्त कवि रविदास

---श्रीमती जया सिब्बू, अजमेर

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का और सन्त साहित्य का स्वर्णिम युग माना माना जाता है। इस युग के सन्त कवियों का समाज सुधार के क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान रहा है। उन्होंने अपनी साहित्यिक कवि-वाणी के माध्यम से समाज को जो कुछ दिया है वह बहुत मूल्यवान है। इन सन्त कवियों में भक्त रविदास का स्थान बहुत ऊँचा है। सन्त रविदास ने एक दलित परिवार में जन्म लेकर भी समाज का सूक्ष्मता से अध्ययन किया है, उसे देखा है, परखा है और उसकी दुर्बलताओं का उद्‌घाटन किया है। यह सचमुच ही भारतीय इतिहास के लिए गौरव तथा गर्व की बात है।

गुरु रविदास के जीवन के विषय में सिलसिले वार स्पष्ट विवरण कहीं नहीं मिलता। हां, उनकी वाणी में कहीं-कहीं उन्होंने अपनी जाति तथा पेशे के सम्बंध में संकेत अवश्य किये हैं जो उनकी स्पष्ट वादिता, निर्भीकता तथा महानता का परिचायक है। उनके जन्म के विषय में निम्नांकित दोहा अवश्य प्रस्तुत किया जाता है—

"चौदह सौ तैंतीस की माघ सुदी पदरास।
दुखियों के कल्याण-हित प्रगटे श्री रविदास ॥"

अर्थात् 'संवत चौदह सौ तैंतीस की माघ सुदी पूर्णिमा को उनका जन्म हुआ था।' इनके पिता का नाम राघव अथवा रघु बताया जाता है। इसी प्रकार इनकी माता के नाम को लेकर विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों के अनुसार उनकी माता का नाम धरविनिया था जबकि अन्यों के अनुसार करमा देवी था। वाराणसी के पास एक छोटे से गांव में इनका जन्म हुआ बताया जाता है। इनके गुरु रामानन्द बताये गये हैं जबकि कुछ लोगों ने इसमें आपत्ति की है।

भक्त कवि रविदास बहुत सामान्य से घर में पैदा हुए थे। उन्होंने जीवन के कटु अनुभवों से साक्षात्कार किया था। समाज में फैले अन्धविश्वासों, ऊंच-नीच की भावनाओं, छूआछूत तथा जाति-पांति की अन्य दुर्बलताओं का उन्हें खूब ज्ञान था। अत: समाज की इन कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं सामाजिक अन्यायों तथा विषमताओं के विरुद्ध उन्होंने आवाज उठाई थी। मगर सन्त रविदास की पद्धति इस सम्बंध में उपदेशात्मक थी, कबीरदासजी की तरह आलोचनात्मक एवं खण्डनात्मक नहीं। उनकी वाणी में सर्वत्र ऋजुता है, वे विनम्र स्वभाव के थे, अक्खड़ स्वभाव के नहीं। उनकी करनी और कथनी में अन्तर नहीं था।

अपने बाल्यकाल में ही रविदासजी नवधा भक्ति में लीन हो गये बताये। वे दिन-रात साधु-सन्तों की सेवा-सत्कार में लगे रहते थे। बारह वर्ष की छोटी उम्र

में ही वे विद्वान् बन गये थे। उनके काव्य में दार्शनिकता है, भक्ति है, सौष्ठव है तथा मनोविज्ञान है। उनकी भाषा एकदम सरल, चित्त को लुभाने वाली, उनके पद भक्ति की रसमयता में डुबाने वाले, उनकी लय संगीतात्मक है। देखिये निम्न पद में उन्होंने किस काव्यात्मक भाषा में, किस सादगी के साथ अपना और ईश्वर का सम्बन्ध बताया है—

"प्रभुजी तुम दीपक हम बाती,
जाकी ज्योत जले दिन-राती।
प्रभुजी तुम घन-बन, हम मोरा,
जैसे चितवई चन्द चकोरा।"

भगवान् का और भक्त का सम्बन्ध दीपक और उसकी वर्तिका से बताना कितना सार्थक है। यह सम्बन्ध सनातन है, कभी टूट नहीं सकता। भला दीपक का उसकी वर्तिका से सम्बन्ध टूट जायेगा तो उससे दिन-रात जलने वाली-निकलने वाली ज्योति का क्या होगा। अतः यह सम्बन्ध अविच्छेद्य है। आकाश में उमड़े हुए बादल को देखकर मोर के मन की दशा का किसी ने अन्दाज लगाया हैं? तन्मय होकर नाचने लगता है मोर बादल को देखकर। यही दशा भक्त की अपने भगवान् को देखने पर होती है। फिर चन्द्र और चकोर की उपमा ने तो कमाल ही कर दिया। चकोर चाँद को किस प्रकार निरन्तर टकटकी लगा कर देखता है— उसके मन में चन्द्र के प्रति क्या ललक है, कितनी आतुरता है यह तो रविदास जैसा सन्त कवि ही बता सकता है। फिर यह प्रेम बताने की बात भी तो नहीं है। यहाँ रविदासजी का मन चकोर है, भगवान् चन्द्रमा है। एक ही पद में उपमा अलंकार की लड़ी बड़ी खूबी और सरलता से पिरो दी गई है। यह सन्त कवि रविदासजी की काव्य प्रतिभा का द्योतक हैं। उनकी कविता तथा पद साहित्य की अमूल्य निधि है। उनके एक-एक शब्द का बहुत बारीकी से अध्ययन किये जाने की महत्ती आवश्यकता है।

अश्वघोष : कवि और कृतित्व

— डॉ. चमनलाल रैणा, अजमेर

अश्वघोष न केवल एक निष्ठावान् भिक्षु ही थे परन्तु वे सक्रिय उपदेशक भी थे। उन्होंने जीवन के अन्तिम आयाम में अपने पास श्रेष्ठ वैभवयुक्त बौद्ध विचारों को ही प्रतिबंधित रूप से रखना नहीं चाहा था। इसलिए उन्होंने सार्वभौमिक उपायों का चयन किया अर्थात् साहित्य और अपनी कृतियों को काव्ययुक्त तथा प्रचार युक्त बना दिया। कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि उन्होंने शुष्क और निर्जीव प्रकार का प्रचार नहीं किया परन्तु उनका प्रचार सरस एवं प्राणयुक्त था जो न केवल मन की आकांक्षाओं को ही अन्तः प्रेरणा देता था अपितु हृदय को भी छू लेता था। दूसरे शब्दों में अश्वघोष का अस्तित्व - प्रचारक, दार्शनिक, परोपकारी आदि रूपों की अपेक्षा कवि के रूप में अधिक दीप्तिमान् रहा।

अश्वघोष बौद्ध सिद्धान्त के आचार्य थे। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि बौद्धधर्म हीनयान एवं महायान दो वादों में विभाजित है। हीनयान प्राचीन परम्परायुक्त मत है, जो भगवान बुद्ध की शिक्षा को कठोरता से तथा विश्वास से अनुसरण करता है। इसके नियम पूर्णतयः प्रत्यक्षवाद प्रधान हैं। इस मत के अनुसार मोक्ष या निर्वाण दैवीकृपा अथवा किसी भी वाह्य सहायता पर आश्रित नहीं है, केवल मात्र बुद्ध के आदर्शों पर सार्वभौमिक नैतिकता पर आधारित है। स्वभावतः हीनयान का लक्ष्य संकुचित है। स्वरूप से यह व्यक्तिप्रधान है। सार्वभौमिक न होने के कारण यहां प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य के लिए तथा अपने ही निर्वाण के लिए तत्पर एवं कार्यरत है। गति के साथ समय बीतने पर महायान मतावलम्बियों के द्वारा हीनयान को आत्म प्रधान होने के कारण समालोचित भी किया गया—यहां प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रयास के द्वारा ही मोक्ष पाने की अभीप्सा कर रहा है। इसी में व्यक्ति का सन्तोष है। वह अन्य व्यक्तियों के प्रति या उनके मोक्ष के प्रति कोई विचार ही नहीं करता है। परिभाषा के सामान्य अर्थों में बौद्ध धर्म अधिभावुकता की कोई साधारण धर्म पद्धति नहीं है। इसी कारण यहां गुरुओं के प्रति आचरण के रूप में श्रद्धा-भक्ति तथा आदर भावना का कोई स्थान नहीं हैं। यहां तक कि स्वयं बुद्ध को भी भगवान् के रूप में स्थान नहीं है, और न उनकी पूजा होती है। वे केवल मार्गदर्शक माने जाते हैं। विशेषतः हीनयान श्रीलंका, वर्मा तथा स्याम में वैभव को प्राप्त हुआ।

बौद्ध धर्म की महायान पद्धति में स्वतः सिद्ध आत्मनिर्भरता ओरों के प्रति अधिक आश्रित रहने के कारण होती है। जैसे कि गुरु, शास्त्र, आध्यात्मिक आचार्य इत्यादि पर आश्रित होना साधारण जनता के लिए उपयुक्त है। इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत होने के कारण, प्रवेश तथा मान्यता पर यहां कोई संकीर्णता नहीं है। यह पद्धति सभी को बौद्ध-भिक्षु बनने का स्वागत करती है। महायान मत के अनुयायी का उद्देश्य बोधिसत्व पद प्राप्त करने का होता है। यह "प्रज्ञा तथा करुणा" की

अवस्था होती है । आत्मिक मोक्ष प्राप्ति के उपरान्त संसार से पृथक् न रहना, अपितु सभी के लिए रहना तथा मनुष्य के कष्टों का निवारण करना है । उनका लक्ष्य मानवजाति को मोक्ष दिलाने में सहायक बनना है । महायान उत्तर चीन, जापान, कोरिया तथा चीन में उन्नतशील हुआ ।

इसमें कोई सन्देह नहीं हैं कि अश्वघोष बौद्धधर्म के परम्परागत हीनयान मत से संबंधित थे । उनकी कृतियों में हीनयान में पूर्वकथित मुख्य विशेषताएं न्यूनाधिक रूप से पाई जाती हैं । यद्यपि अश्वघोष ने बुद्ध को भगवान् के रूप में पूजा नहीं की, तो भी भगवाने बुद्ध के प्रति उनकी अथाह "आदर भावना" हमें दिखाई देती है । हमें अश्वघोष में दूसरों के प्रति करुणा पर आधारित प्रेरणा शिक्षा, सहायक सेवा, परिवर्तन और उद्धार जैसी प्रबल इच्छाएं देखने को मिलती हैं । उनका धार्मिक कलाओं या धर्म को व्यक्त एवं उल्लासित करने वाली कलाओं के प्रति सीधा झुकाव भी हमें दिखाई देता है ।

अश्वघोष में सुदृढ़ प्रत्यक्ष ज्ञान, विनम्र, सांसारिक दृष्टिकोण जीवन संबंधी तथ्य तथा समस्याओं के प्रति निर्मल सूझबूझ के होते हुए भी, उन्होंने कभी संसार की यथार्थता से नेत्रबन्द करना उचित नहीं समझा । वास्तविक तथ्यों का वर्णन करने में, वे कभी भी चूके नहीं, चाहे वे अद्वैत सिद्धान्त एवं आदर्श के प्रति विरोध एवं घृणास्पद ही क्यों न थे । सौन्दरानन्द में वर्णित नन्द और सुन्दरी के मध्य प्रणय के दृश्य या बुद्ध-चरित में कथित वेश्याओं के कृत्रिम प्रेम की गाथा ही क्यों न थी ।

अश्वघोष समन्वयवादी थे, जिन्होंने चिन्तन, चेतना तथा इच्छा पर आधारित प्रकृति का सभी दिशाओं में पूरी तरह से समीकरण किया । ऐसे उद्देश्यों से स्पष्ट है कि अश्वघोष निश्चय ही हीनयानवादी थे । शनैः शनैः बौद्धधर्म के अन्तर्गत महायान सम्प्रदाय के प्राथमिक तत्त्वों की ओर उनका झुकाव बढ़ता गया उन्हें हीनयान तथा महायान सम्प्रदायों की ओर से, उनकी विद्वत्ता, अथाह भक्ति तथा धर्मनिष्ठा के लिए समान रूप से प्यार एवं आदर मिलता रहा ।

अश्वघोष एक महाप्रतिभाशाली विचारक थे । वे भिक्षु, प्रचारक, दार्शनिक, अध्यात्मवादी, वैयाकरण, भाषाविद्, अलंकार, शास्त्रज्ञ, छन्दशास्त्रज्ञ, गायक, संगीतज्ञ, हीनयानलम्बी, महायानावलम्बी, विद्वान्, भक्त, कवि तथा नाटककार थे । वस्तुतः वे समन्वय के श्रेष्ठ तथा शाश्वत विचारों के पूर्ण चिह्न थे । उनके प्रसंग में बहुत कुछ कहा गया है और लिखा गया है । वे निस्संदेह सर्वप्रथम उच्चकोटि के कवि थे, जिनकी काव्य प्रतिभा महान् थी । व्यापक दृष्टि, दूरदर्शिता, मेधाशक्ति के होने के साथ-साथ उनमें अद्भुत नवीनता थी, जिससे वे शुष्क जीवन चरित्र संबंधी तथ्यों तथा शुष्कतर दार्शनिक, आध्यात्मिक, नैतिक सिद्धान्तों को सुन्दर रीति से वर्णन कर सके ।

अश्वघोष जैसे प्रतिष्ठित विद्वान् के नाम के साथ कई ग्रन्थों का जुड़ना

स्वाभाविक ही है। उनमें से केवल मात्र निम्नांकित तीन ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने जाते हैं—

1. बुद्धचरित, 2. सौन्दरानन्द तथा 3. सारीपुत्र प्रकरण

अश्वघोष की विश्व प्रख्यात बुद्ध-चरित उनकी पहली एवं सर्वोत्कृष्ठकृति है। दुर्भाग्यवश इस अमूल्य ग्रंथ का संस्कृत मूल पाठ अपूर्ण है।

बुद्ध चरितम् सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के सम्पूर्ण जीवन तथा दर्शन का महाकाव्य है। बुद्ध चरितम् संस्कृत में लिखा गया है। इसके मूल अंश विलुप्त हो गये हैं। भारतीय भिक्षु धर्मक्षेम के चीनी अनुवाद में 28 सर्ग हैं। वे 414-421 ई. पश्चात् तक जीवित थे, तथा धर्म-रक्ष अथवा धर्माक्षर के नाम से भी जाने जाते जाते थे। उनका अनुवाद शाब्दिक न होकर एक प्रकार का विस्तृत व्याख्यानुवाद था। यह मौलिक ग्रन्थ न होकर उसका अनुवाद है। तो भी सामान्य रूप से यह ग्रन्थ हमें अश्वघोष की विश्व-विख्यात् कृति बुद्ध-चरितम् का सार बता देता है। विशेषकर यह कृति बुद्ध-चरित् के अलभ्य सर्गों (28 सर्गों के ग्रन्थ) के अस्तित्व का द्वितीय सुदृढ़ प्रमाण प्रदान करती है, तथा बुद्धचरितम् के तिब्वती अनुवांद होने का पूरा समर्थन करती है। यह तिब्वती अनुवाद क्षितीन्द्रभद्र या महेन्द्रभद्र मतिराज (7-8वीं शती ई.) का है। चीनी अनुवाद की तरह ही इसमें भी 28 सर्ग है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मूल बुद्ध-चरित के 28 सर्ग हैं, जिसका केवल तिब्वती अनुवाद ही मूल रूप से सुरक्षित है।

राजकुमार सिद्धार्थ के लुम्बिनी वन में अद्भुत जन्म के साथ ही बुद्ध-चरित का आरम्भ होता है। बुद्ध का जन्म औरों की भांति साधारण ढग से नहीं हुआ है। अपितु वे माता के वाम भाग से बाहर निकले। उस प्रसवकाल में माता को कोई भी पीड़ा न हुई। उनके जन्म लेने के पश्चात् वहां पर काफी प्रसन्नता छा गई।

उस शिशु का अवलोकन करते हुए उनके शुभ चिह्नों को देखकर असित मुनि का हृदय फूले न समाता है। वे महाराज को आश्वासन देते हैं कि उनका पुत्र एक दिन सारे संसार को बंधन से मुक्त कर लेगा। महाराज काफी धूमधाम तथा वैभव के साथ नगर की ओर आते हैं।

निस्संदेह, सन्तों और ज्ञानियों की भविष्यवाणियाँ सत्य निकलती है। यह बालक शीघ्र ही राजकुमार हो जाते हैं, तथा अपने आन्तरिक प्रभुत्व और श्रेष्ठ लक्षणों को व्यक्त करते हैं। उनका समस्त राज्य उनकी अनन्त क्षमताओं के अनुकूल एवं उच्च विशिष्टताओं के कारण उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है।

धर्म पूरी गरिमा तथा वैभव के साथ अभ्युदय के मार्ग पर आकर दुराचारी अनिष्टकारी, अशुभ तथा निम्न स्तर की शक्तियों का नाश करता है।

राजकुमार अपनी गरिमा के उपयुक्त समस्त सांसारिक सुखों का भोग करते हैं।

उनके पिता शुद्धोदन तपस्वी असित की भविष्यवाणी से कि राजकुमार एक दिन समस्त जगत् के उद्धारक बन जाएंगे, सच निकलेगी, इससे भयभीत हो जाते हैं। इसलिए उनका रूपवती यशोधरा से विवाह करके उन्हें गृहस्थ के पाशजाल में फंसाने का प्रयत्न करते हैं। राजकुमार अपनी पत्नी के साथ गृहस्थ जीवन सुचारु रूप से व्यतीत करते हैं। यशोधरा सुन्दर बालक राहुल को जन्म देती हैं।

पिता पुत्रमोह के कारण, इनके दाम्पत्य जीवन से भी सन्तुष्ट न होकर, उन्हें राजभवन की प्राचीरों में ही बन्द रखने के लिए सब प्रकार के सांसारिक सुख-भोगों की व्यवस्था प्रदान करते हैं। राजकुमार को प्रेम के पाश में बांधने के लिए रूपवतियों का आयोजन भी करते हैं।

राजकुमार पूर्वजन्म के सकामकर्मो अर्थात् ऐन्द्रिय सुखों का उपभोग करते हुए, राजभवन के स्वर्णिम कारागार में, महाराज के अनथक प्रयासों के कारण बन्दी होते हुए भी बाहर आना चाहते हैं। वे कथित सुन्दर उपवन की ओर जाने की इच्छा करते हैं। महाराज उन्हें विमुखभाव से ही जाने की आज्ञा देते हैं। संबंधित अधिकारियों को आदेश दिया जाता है कि उपवन की ओर जाने वाले सभी मार्ग वृद्धरोगी, नेत्रहीन, विकलांगों तथा पंगुओं से मुक्त रखे जाएं।

प्रत्येक अवसर प्रसन्नचित, सुन्दर, सुशोभित वस्त्रधारी जन समुदाय के अभिवादन से आरम्भ होता है। उनका उज्ज्वल स्वर्ण रथ उनको सुन्दर सुसज्जित विस्तृत मार्ग से होते हुए प्रसन्न मुद्रा में ले जाता है। विधाता की ऐसी करनी होती कि स्वर्ग के देवता अपनी अपार दया, प्रज्ञा तथा प्रत्येक के शुभचिन्तक होने के कारण राजकुमार के मार्ग में एक शिथिल विकलांग वृद्ध का सृजन करते हैं। मार्ग में सफेद केश युक्त, मुख पर झुरियां, तिथुरित शीर्ष, असंतुलित आकृत्ति, त्रिवलयी शरीर वृद्ध को देखकर राजकुमार सारथी से पूछते हैं—"यह कौन है ?" सारथी उचित समझते हुए कुछ भी गोपनीय न रखकर उन्हें बता देता है कि यह दशा प्रत्येक व्यक्ति की नियति है। जन्म-वृद्धि-जरा एवं क्षय-इस चक्र से कोई भी बच नहीं पाता है।

राजकुमार के पूछने पर कि क्या ये दोष उन्हें भी ग्रस्त कर सकते है ? (किमेष दोष: भविता मामप्यत्यस्मै ? तत्क्षण उत्तर मिलता है, हे महानुभाव ! अवश्य ही आपको भी यह विकार आ सकते हैं।

राजकुमार सारथी को घर की ओर प्रस्थान करने की आज्ञा देते हैं। उनको अब उपवन की ओर जाने की कोई इच्छा नहीं रही है।

जरा का निरन्तर चिन्तन करते हुए, राजकुमार का मन अस्त-व्यस्त हो जाता है। वे पिता की आज्ञा लेकर फिर से मार्ग की ओर जाते हैं। इस समय पहले

की भांति देवताओं द्वारा निर्मित एक रोगी को देखते हैं। राजकुमार पुनः अपने सारथी से प्रश्न करते हैं। उन्हें उत्तर मिलता है कि रोग भी सांसारिक जीवों के भाग्य में होता है। जीवन से वृद्धि, रोग और अन्ततः मृत्यु होती है। राजकुमार पुनः प्रश्न करते हैं—क्या मुझे भी रोग ग्रस्त होना अनिवार्य है। उत्तर में "हां" शब्द मिलता है।

राजकुमार काफी उदास होकर राजभवन की ओर वापिस मुड़ते हैं वे पूर्ववत् शान्तभाव से विश्राम न पाकर भी तीसरी बार बाहर जाने की इच्छा प्रकट करते हैं। महाराज अब की बार अपने सारथी को गुप्त आदेश देकर राजकुमार को भोग-विलास युक्त उपवन की ओर या रूपवती, सर्वजनीय वारांगनाओं तथा नगर वेश्याओं से पूर्ण अरण्य की ओर ले जाने के लिए कहते हैं।

परन्तु उस समय भी देवगण संसार के हित के लिए पुनः हस्तक्षेप करते हैं। इस बार राजकुमार मनोहर उपवन मार्ग में एक मृत शरीर को देखते हैं। राजकुमार के पूछने पर बुद्धिमान् सारथी ने उत्तर में कहा—जरा-मरण सांसारिक जीवन का सार्वभौमिक नियम है, कोई भी इस से बच नहीं पाता चाहे मनुष्य कितना ही शक्तिशाली, धनाढ़य, प्रभावशाली, आदरणीय तथा प्रिय क्यों न हों।

पूर्ववत् राजकुमार अपने घर जाने की इच्छा प्रकट करते हैं। महाराज के आदेशानुसार सारथी उन्हें मनोहर उपवन की ही ओर लेते हैं।

ज्यूँही राजकुमार उपवन में पहुंचते हैं, उसी समय सुन्दरियाँ उन्हें घेर लेती हैं। उनके भव्य रूप को देखकर, निस्तब्ध हुई सुन्दरियां उन्हें कामदेव समझती हैं। राजकुमार की गरिमा को स्थिर रखते हुए, शान्त और राजकीय आचरण का पालन करते हुए, वे श्रृंगार पूर्ण कामुक रूप में राजकुमार के पास निकट आने का साहस नहीं करती हैं। वे उचित दूरी पर ही उपस्थित रहती हैं।

इस प्रकार बहकाये जाने पर, सुन्दरियाँ राजकुमार का दिल जीतने के लिए एक दूसरे की होड़ लगा देती हैं। परन्तु राजकुमार का दिल किसी भी प्रकार फिसलता नहीं। इस प्रकार का प्रलोभन तथा उत्तेजना के होने पर भी, राजकुमार शान्तचित्त और दूर रहते हैं। पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण ही, उन्हें जीवन में कुछ भोगमय समय बिताने के लिए वाध्य होना पड़ता है। कार्यरत उदायी इस प्रकार के युद्ध क्षेत्र में कूद कर, राजकुमार को सांसारिक सुखों का भोग भोगने के लिए उत्तेजित करता है। वह राजकुमार से पूछता है—क्या प्राचीनकाल के आदरणीय सन्त और तपस्वी ऐसा आचरण नहीं करते थे? राजकुमार उसे उत्तर में एक लम्बा दार्शनिक प्रवचन देते हैं।

राजकुमार को अपनी त्रिया चरित्र तथा रसिक प्रयत्नों से पथभ्रष्ट करने में असफल होकर वे रूपवतियां निराश और उदासीन होकर नगर वापिस लौटती हैं।

पिता, अपने पुत्र के मन को जीतने के लिए तथा उसे संसार रूपी माया-

जाल में फंसाने के लिए गणिकाओं को नियुक्त करते हैं। परन्तु यह राजकुमार से सहन नहीं होता है। वे अपने पिता से वन की ओर प्रस्थान करने के लिए फिर आज्ञा मांगते हैं। वन में पहुंचते ही उन्हें दुःख, मृत्यु और संहार के संकेत चारों ओर दिखाई देते हैं। वे घोड़े से नीचे उतर कर वटवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो जाते हैं। राजकुमार को समयान्तर में अपनी पूरी शंकाओं और अनुभवों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है।

दूसरों को न दिखाई देने वाला, एक भिक्षु उनके सामने प्रकट होता है। राजकुमार उससे प्रश्न करता है "तुम कौन हो ?" वह उत्तर देता है—"मैं भिक्षु हूं। मैं ने जरा और मृत्यु के विचारों से संतप्त होकर सांसारिक जीवन को त्याग दिया है और निर्वाण का मार्ग धारण किया है। इसी कारण भिक्षुवृत्ति को अपनाया है।"

राजकुमार तत्क्षण संसार को जरा एवं मरण से मुक्त कराने के लिए भिक्षुमार्ग पर चलने की चित्तवृत्ति बनाते हैं। अतः वे भिक्षुजीवन व्यतीत करने के उद्देश्य से महाराज से आज्ञा पाने के लिए राजभवन में वापिस लौटते हैं। किन्तु महाराज राजकुमार को पूर्ववत् सांसारिक भोगों में लिप्त कराने का प्रयास करते हैं।

यहां हमें फिर से श्रृंगार-लिप्त रसिक युवतियों द्वारा राजकुमार को लुभाने के लिए सजीव दृश्य दिखाई देते हैं।

राजकुमार ने विलासपूर्ण उपवन की लोह-परीक्षा में पहले से ही सफलता पाई थी अतः वे शान्त, अविचल और अक्षुब्ध अवस्था में ही रहते हैं।

वे अब उसी रात्रि राजभवन को त्यागने का संकल्प करते हैं और गृह त्याग देते हैं संसार के लोगों को दुःख से मुक्ति का मार्ग ढूंढने के लिये। बुद्ध चरितम् बुद्ध के सम्पूर्ण जीवन का महाकाव्य है। यहां हमने उसके प्रथम सर्ग के अंश को ही दिया है। इस छोटे लेख में पूरे महाकाव्य की कथा देना सम्भव नहीं है।

—✱—

चार चीजों का दान...... (शेष पृष्ठ 5 का)

सुप्रवासा ने भगवान् को शिरसा प्रणाम किया। भगवान ने प्रस्थान किया। और भगवान की पवित्र वाणी में भिक्षु श्रावक-श्राविकाओं तथा उपासक-उपासिकाओं की तालिका में इकहत्तरवां तथा भिक्षु उपासिकाओं में सातवां स्थान प्राप्त शाक्य कुण्डिया सीवली माता क्षत्रिय कुलोतपन्न सुप्रवासा कोलिय प्रणीत दायिकाओं में अग्र हुई।

—बुद्ध कथा के आधार पर साभार

□

पर्यावरण, प्रदूषण और मानव समाज

□ श्री धर्म्मप्रिय बी. एस. सहवाल, अजमेर

मानवीय मन के सोच का प्रभाव —

मानवीय मन के आन्तरिक सोच का प्रभाव उसके वाह्य व्यवहार में परिलक्षित होता है। उसका यह व्यवहार प्रकृति तथा समाज दोनों पर असर डालता है। यदि उसका व्यवहार सन्तुलित नहीं है, अविवेकपूर्ण है तो वह सामाजिक पर्यावरण को भी दूषित बना देता है और प्राकृतिक पर्यावरण को भी। और इससे मानव-समाज को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण जैव जगत् को भारी क्षति पहुंचती है, पहुंची है तथा पहुंच रही है।

प्रकृति पर आक्रमण :

प्रकृति पर मानवीय गतिविधियों का अतिक्रमण तथा हस्तक्षेप एक सोचनीय स्थिति तक बढ़ गया है। मनुष्य की अनियन्त्रित इच्छा तथा आवश्यकताओं ने प्रकृति के वाह्य तथा आन्तरिक रूप को बिगाड़ा है—उसकी प्रक्रिया को बुरी तरह से प्रभावित किया है। औद्योगीकरण, नगरीकरण, ऊर्जा तथा खनिज स्रोतों के दोहन, जनसंख्या में वृद्धि एवं अन्य भौतिक रासायनिक-गैसीय प्रदूषणों से प्राकृतिक-पारिस्थितिकी असन्तुलन (Natural and ecological imbalance) पैदा हुआ है और निरन्तर हो रहा है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति ने मनुष्य को प्रकृति पर हावी होने की अपूर्व क्षमता-शक्ति प्रदान की है। अब मनुष्य पर्वतों को हिला सकता है, नदियों की धारा को मोड़ सकता है, नये सागर बना सकता है, विस्तृत मरूस्थलों को हरा-भरा कर सकता है। एक अर्थ में मनुष्य प्रकृति की स्थिति में आमूल परिवर्तन कर सकता है। मनुष्य की उत्पादक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी गतिविधियाँ अब पृथ्वी के धरातल पर ही नहीं, उसकी सामुद्रिक गहराइयों तथा आकाश की ऊँचाइयों तक बढ़ गई है।

आधुनिक पारिस्थितिकीय अनुसंधानों (Ecological Researches) से यह स्पष्ट हो गया है कि मनुष्य का एकतरफा विवेकहीन तथा अबाधित आक्रमण पृथ्वी पर सभी प्रकार के जीवन को नष्ट कर सकता है। इसलिये प्रकृति पर विजय पाकर मनुष्य को घमण्ड से बहुत अधिक फूल नहीं जाना चाहिए। प्रकृति भी इसका प्रतिशोध दृष्य तथा अदृष्य रूप से लेती है। इस सम्बन्ध में फ्रेडरिक एंजिल्स के विचार दृष्टव्य हैं—

"Let us not, however, flatter over much on account of our human victories over nature. For each such victory, nature takes its' revenge on us. Each victory, it is true, in the first place brings about the results we expected, but in the second and third places

it has quite different, unforseen effects which only too often cancel the first."

वस्तुत: मानव तथा मानव समाज भी प्रकृति की समग्रता का एक अंग है, और उसकी समग्रता कौ क्षति पहुंचती है तो मानव तथा मानव-समाज भी स्वत: ही उससे क्षतिग्रस्त होता है ।

पर्यावरण और जीव जगत्—

यह सिद्ध हो चुका हैं कि मनुष्य द्वारा भौतिक वस्तुओं का नियोजित उत्पादन जीव-जगत् (Biosphere) को क्षति पहुंचाने वाले प्रभावों का अनियोजित उत्पादन है । और वह भी इस स्थिति तथा सीमा तक कि पृथ्वी पर स्वयं मनुष्य सहित समस्त जीवन खतरे में पड़ गया है । भौतिक वस्तुओं का उत्पादन उन पारम्परिक प्राकृतिक स्रोतों का अन्धाधुन्ध दोहन कर रहा है जिनकी पुन: पूर्ति नहीं हो सकती । साथ ही वह जीव-जगत् के तत्त्वों के बीच महत्वपूर्ण कड़ियों (Links) को भी भंग कर रहा है तथा उसकी जीवनावलम्बी प्रक्रिया-विधियों (Systems) को नष्ट कर रहा है । जैव-जगत् में पृथ्वी पर, उसकी मिट्टी में, उसके जल में तथा उसके वायुमण्डल में रहने वाले समस्त जीव-जन्तु सम्मिलित हैं । इसके अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़, अकाल, शीत, तूफान जैसी ध्वंसक प्राकृतिक शक्तियां पर्यावरण को अलग से अपने हिसाब से असन्तुलित करती रहती हैं और जीव-जगत् को क्षति पहुंचाती रहती हैं । बहुत से पारिस्थिति वैज्ञानिकों के मतानुसार सबसे अधिक महत्वपूर्ण पारिस्थितिकी और सामाजिक समस्या (ecological and social problem) तो यह है कि सारे संसार में जीव-जन्तु वर्गों की बहुत सी किस्में विलुप्त हो गई हैं । अग्रणी शरीर वैज्ञानिकों के मुताबिक प्राकृतिक एवं मानवीय गतिविधियों के कारण पिछले हजारों वर्षों से अब तक कितने ही जानवरों तथा वानस्पतिक पौधों की किस्में समाप्त हो चुकी हैं ।

सिद्धान्तत: वास्तव में सभी शरीरधारी जीवों के वर्गों (all biological species) को अन्तत: मरना है; फिर भी इस सदी के अन्तिम वर्षों में मनुष्यों के अवासित क्षेत्रों में बढ़ते हुए आवासीकरण से तथा विषैले रासायनिकों के अधिकांशत: प्रयोग से और प्रकृति के निर्मम दोहन-शोषण से जीव-जन्तुओं की वर्ग-किस्मों की विलुप्ति की दर में तीव्र बढ़ाव देखा गया है जो नये जीव-जन्तुओं का वर्ग किस्मों के पैदा होने की दर से भी कहीं अधिक है । जीवों की जितनी वर्ग-किस्में (species) पिछले 2000 वर्षों में नष्ट हुई थीं, उतनी सन् 1900 के बाद हो गईं । शरीर वैज्ञानिकों की धारणा है कि पिछले 350 वर्षों से सन् 1900 ई. के मध्य तक हर दस साल में एक जानवर का वर्ग या उपवर्ग (species or sub-species) विलुप्त हुआ । International Association For The Protection of Natural Resources की गणना के मुताबिक अब औसतन

एक जीव-वर्ग या उपजीव-वर्ग हर वर्ष विलुप्त हो जाता है। करीब 1000 पक्षी एवं जानवरों के जीव-वर्ग अभी खतरे में चल रहे हैं। कुछ शरीर वैज्ञानिकों के अनुसार किसी एक पौध वर्ग की विलुप्ति 10 से 30 कीट, जानवर या अन्य पौध वर्ग को नष्ट कर देती है। सभी प्रकार के पौध तथा जन्तु जीवन, जिसमें वहुत कम ज्ञात फर्न, झाड़ियाँ, कीट, मोल्युसेस शामिल हैं, के आगे भी जीवित रहने की सम्भावनाओं का एक अध्ययन बताता हैं कि यदि वर्तमान गति (Trend) जारी रहती है तो इनमें से अधिकांशों के जीवित रहने की सम्भावना बहुत कम है। यदि पृथ्वी पर शारीरिक दरिद्रीकरण या दुर्वलीकरण का क्रम इसी तरह बिना रोके आगे के कुछ दशकों तक जारी रखा जाता है तो लोगों के महसूस करने से पूर्व कि ऐसा हो चुका है, यह संख्यात्मक तथा मात्रात्मक रूप से जैव-जगत् में आमूल एवं अपरिवर्तनीय परिवर्तन ला सकता है। हाँ, जीव-जगत् का क्रम-विकास(evolution) वस्तुतः चलता तो रहेगा लेकिन विकृत रूप में ही।

प्रदूषण की समस्या—

आजकल प्राकृतिक प्रक्रियाओं में अत्यधिक मानवीय हस्तक्षेप स्थानीय स्तर पर ही नहीं, अपितु प्रादेशिक एवं पूरे विश्व के स्तर पर भी अपना प्रभाव छोड़ रहा है। हम पर्यावरण में बड़ी मात्रा में औद्योगिक तथा घरेलू उच्छिष्ट एवं नकारा तत्त्व(wastes) छोड़ रहे हैं। इस दुनिया के देश सालाना 4000 मिलियन टन से अधिक तेल तथा प्राकृतिक गैस, 2000 मिलियन टन कोयला और 20,000 मिलियन टन कच्चा लोहा (ore) एवं पत्थर निकाल रहे हैं। फोसिल फ्यूल, कच्चा लोहा और पत्थर के अणु-परमाणु प्रोसेसिंग के दौरान वायु, मिट्टी तथा जल में मिल जाते हैं। सन् 1970 में करीब दो मिलियन रासायनिक मिश्रण, जिसमें रासायनिक खादें शामिल नहीं हैं, जैव-जगत् में घुल-मिल गये। विश्व स्वास्थ्य संगठन के आंकड़ों के मुताबिक 40,000 रासायनिक पदार्थ हम काम में लेते हैं जिनमें मनुष्य के लिये हानिप्रद तत्त्व होते हैं। सारी दुनिया में प्रतिवर्ष 2,50,000 से भी अधिक नये रासायनिक मिश्रण तैयार किये जाते हैं। इनमें से 300 उत्पादन में काम में आते हैं और वे पर्यावरण में मिल जाते हैं। आधुनिक इन्डस्ट्री नये सिद्धान्तों पर आधारित पदार्थों का विकास कर रही है और नये किस्म के उच्छिष्ट (wastes) पैदा कर रही हैं। क्रम विकास (Evolution) ने मानव शरीर को उनमें से कुछ के प्रभावों से निपटने के लिये सुसज्जित नहीं किया है। उन्होंने मानव पर इस प्रकार प्रभाव डाले हैं कि एण्डोक्रीन, श्वास-प्रश्वांसीय, एलर्जिक, विषैली तथा प्रजनन सम्बन्धी प्रकृति की ऐसी बीमारियां पैदा हो सकती हैं, जैसी पूर्व में नहीं थीं। अतः मानव-समाज के भविष्य के जल-स्रोतों व जल, लिथोस्फेअर तथा वायु की शुद्धता एवं स्वस्थ पर्यावरण के लिये चिन्ता होना स्वाभाविक है। इसलिये हमें इन पदार्थों के द्वारा उत्पन्न प्रभावों पर ही विचार नहीं करना चाहिये वल्कि आने वाली दो या

तीन पीढ़ियों के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले उनके प्रभाव के बारे में भी सोचना चाहिये।

उपाय क्या है ? —

भौतिक उत्पादन ऐसा होना चाहिये जिससे जैव-जगत् का पुनः नियोजित संगठन हो तथा वह रुग्ण और मरणशील आर्गेनिज्म में रूपान्तरित न हो। इसके लिये प्राकृतिक स्रोतों का विवेकपूर्ण उपयोग तथा मानव-समाज का प्रकृति के साथ अधिक से अधिक संवाद अथवा व्यवहार Interaction) अपेक्षित है। इस संवाद के लिये उचित वैज्ञानिक तरीकों की खोज करनी होगी। मानव समाज की वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों के लिये भूमि तथा उसके खनिजों, जल स्रोतों, पौध एवं पशु जीवन को सुरक्षित करना होगा, वायु और जल प्रदूषण को रोकना होगा व उनकी शुद्धता को बनाये रखना होगा, प्राकृतिक सम्पदा वन इत्यादि के पुनः उत्पादन को आश्वस्त करना होगा और मानव पर्यावरण को उन्नत बनाना होगा।

पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी (environment and ecology) की सुरक्षा तथा संरक्षकता का काम कुछेक देशों में बखूबी हुआ है और हो रहा है। किन्तु अन्य बहुत-से देशों में इस काम ने वांछित गति नहीं पकड़ी है और कुछेक देशों के लोग तो ऐसे हैं जो इसके महत्त्व को पूरी तरह से नहीं समझते। उनके एक शहर में वायु प्रदूषण को रोकने के लिये जितने उपाय किये गये हैं उतने ही पास के अन्य शहरों या कस्बों में नहीं—बल्कि वहाँ अधिक प्रदूषण फैलाने दिया जा रहा है। जहाँ एक ओर एक शहर में पुराने वाहनों पर रोक लगाई जा रही है वहाँ दूसरी ओर अन्य शहर में धड़ल्ले से पुराने वाहनों को चलाने की इजाजत दी जा रही है। वस्तुतः वायु प्रदूषण की समस्या जहां की तहाँ है और उससे होने वाले नुकसान में कोई कमी नहीं आ पाई है जबकि यह समस्या स्थानीय स्तर की न होकर समस्त प्रदेश एवं देश के स्तर की है, विश्व के स्तर की तो है ही। अतः इसे बड़ी गम्भीरता से लेना होगा। इसके लिये सभी जगह तकनीकी वाहन सर्विस, उन्नत किस्म के एंजिन, नई किस्म के ज्वलन पदार्थ (फ्यूल आदि) तथा न्यूट्रलाइजर्स की व्यवस्था करनी होगी जिससे वाहन कम से कम धुआँ वायु-मण्डल में छोड़ें।

जल को भी इसी तरह प्रदूषण रहित बनाना है तो गंगा के पानी को स्वच्छ करना ही होगा; केवल प्राधिकरण बनाने से काम नहीं चलेगा। फिर और नदियों की तो बात ही अलग है। कृषि भूमि में खनिज एवं रासायनिक खादों तथा कीट-नाशकों के हानिकारक टोक्जिक तत्त्व सीवेज के अथवा अधि-सिंचाई के फलस्वरूप बह जाने वाले पानी में घुलकर नालों-खालों के माध्यम से होते हुए नदियों में आ मिलते हैं जिससे उनका शुद्ध जल प्रदूषित हो जाता है। हमारे देश में इस ओर अभी समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। अतः कृषि भूमि के अधिसिंचन पर रोक लगाई जानी चाहिये जिससे हानिकारक कीटनाशक एवं रासायनिक खाद के तत्त्व पानी के साथ बहकर नालों-खालों तथा नदियों आदि में न मिल सकें। शुद्ध पानी

के वाटर रिजर्वीअर बनाये जाने की जरूरत है तथा जल शुद्धीकरण संयंत्रों को लगाया जाना भी जरूरी है। पानी के व्यर्थ बहाव को भी रोकने की आवश्यकता है। यद्यपि नदियों पर बड़े बाँध तथा बरसाती पानी को एकत्रित कर रोकने के लिये तालाब एवं छोटे-छोटे एनीकटों का निर्माण किया गया है पर अभी भी इस ओर ध्यान देने की काफी जरूरत है।

दूसरी ओर जंगलों की निर्ममता से अन्धाधुंध कटाई की गई है। इससे मिट्टी के कटाव, बहाव, जल के रुकाव, खिचाव आदि से लेकर पारिस्थितिकी एवं जैव-जगत् से संबंधित अनेक समस्याएं खड़ी हो गई हैं। इन समस्याओं से निपटने के लिये नेशनल पार्क तथा संरक्षित वन बनाये गये हैं और सामाजिक वानिकी को भी प्रोत्साहित किया जा रहा है एवं वृक्षारोपण के कार्यक्रम भी प्रारम्भ किये जा हैं। किन्तु पहले तो वृक्षारोपण कार्यक्रमों से जंगलों का निर्माण नहीं किया जा सकता, क्योंकि जंगल उगाना तो प्रकृति के ही वश की बात है, मनुष्य के वश की बात नहीं; फिर पौध-रोपण या वृक्षारोपण का कार्य यदि गम्भीरता से भी किया जाता है तो भी पौधों की उचित देखभाल तथा संरक्षण के अभाव में वे सूख जाते हैं या पशुओं द्वारा चर लिये जाते हैं और बहुत कम पौधे जीवित बचकर वृक्षों के रूप में उभर पाते हैं। खेतों के आसपास, सड़कों के किनारों पर तथा कुछेक चुने हुए स्थानों पर तो वृक्षारोपण का काम दिखाई देता है किन्तु जिन पहाड़ी-पर्वतों और मैदानों को उन पर लगे प्राकृतिक जंगल काटकर नंगा कर दिया गया है, उनकी सुध कोई नहीं ले रहा है। बहुत-से जंगल तो कागज में ही उगा दिये जाते हैं जो सरकारी वन महकमों तथा अन्य अभिकरणों की करामात है। अतः प्रथम तो मूल बात यही है कि प्राकृतिक वनों को मानव-स्वार्थ पूर्ति के लिये नहीं कटने दिया जावे। लकड़ी के स्थान पर अन्य विकल्पों तथा साधनों से मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति की युक्ति की जाये। केवल वन संरक्षण कानून बनाने से काम नहीं चलेगा। वन संरक्षण के अतिरिक्त पशु-पक्षी एवं वन्य जीव संरक्षण को लेकर भी विश्व के देशों में अनेक कानून बने हैं और इन्हें मारने पर रोक लगी है। किन्तु फिर भी पशु-पक्षियों तथा वन्य जीवों का आखेट चुपके-चुपके या कभी-कभी धड़ल्ले से होता है। अतः इनके प्रति लोगों का दृष्टिकोण भी बदलने की जरूरत है।

कच्चे माल तथा फ्यूल माइनिंग के लिये खनि क्षेत्रों का संरक्षण, इण्डस्ट्रियल तथा खनिज उच्छिष्टों (wastes) के लिये स्टोरेज एवं हानिप्रद पदार्थों के पर्यावरण में मिलने पर नियन्त्रण के उपाय करना बहुत आवश्यक है। जैव-जगत् के लिये पृथ्वी का छिलका (Crust) अर्थात् धरातल के एकदम नीचे की मिट्टी वाला हिस्सा बहुत संवेदनशील है और महत्वपूर्ण भी। हम इसे गहराई तक खोद देते हैं जिससे इसके दुष्परिणामों अर्थात् जीव-जन्तुओं के बहुत से वर्गों को नष्ट होने से रोकना जल या वायु प्रदूषण को रोकने से भी अधिक कठिन हो जाता है। इन सबके लिये लोगों में पर्यावरण-संरक्षण एवं उसकी देखभाल सम्बन्धी दृष्टि पैदा करना जरूरी

है तथा यह काम मास मीडिया, गैर सरकारी संगठन एवं प्रशासन मिलकर बखूबी कर सकते हैं।

टेक्नो-जैव-जगत् की सार्थक परिकल्पना —

वस्तुत: हम ऐसे पर्यावरण में रह रहे हैं जिसे हमने पूर्व में ही निर्मित कर लिया है। इस प्राकृतिक पर्यावरण को मानव आवश्यकताओं के अनुकूल सुरक्षित रूप दिया जाना बहुत अपेक्षित है ताकि भूकम्प, तूफान, बाढ़, अकाल, रेडियो-एक्टीविटी तथा स्पेस रेडियेशन आदि ध्वंसक प्राकृतिक शक्तियों से निपटा जा सके। ऐसे परिवर्तन उन नियमों के अनुसार ही लाये जा सकते हैं जिनसे जैव-जगत् अपनी अखण्डित तथा स्वचालित प्रक्रिया विधि system) की तरह कार्य करता है और आगे विकसित होता है। वस्तुत: तीव्र तकनीकी प्रगति जीवन के सभी क्षेत्रों में ऊर्जा शक्ति (Energy) के नये रूपों तथा नये पदार्थों के प्रादुभाव, तेल, प्राकृतिक गैस, कोयला एवं विभिन्न प्रकार के कच्चे लोहे एवं खनिजों के गहन दोहन-उत्खनन, रसायन शास्त्र द्वारा की गई उन्नति तथा फूड ऐडीटिव्ज, रंग-द्रव्य, संरक्षण-द्रव्य और खाद्य इत्यादि के व्यापक प्रयोग में प्रवेश करगयी है। मनुष्य उत्पादन-कर्त्ता एवं उपभोग-कर्त्ता की स्थिति में अब एक नये कृत्रिम पर्यावरण और उसके भिन्न तत्त्वों (Elements) के सम्पर्क में नये जैव-तकनीकी जगत् के साथ आगे आ रहा है। अत: अपनी विवेक एवं प्रयोजन पूर्ण गतिविधियों के द्वारा मानव-समाज को अब टेक्नो-जैव-जगत् में रूपान्तरित करना ही होगा।

वैसे भी प्राकृतिक शक्तियों ने मनुष्य को उन परिस्थितियों को आमूलत: उन्नत व परिवर्तित करने योग्य बना दिया है जिनमें वह रह रहा है। मरुस्थलों में सूखे प्रदेशों (Arid Jones) में रहने वाले लोगों के लिये सिंचाई ने नया पर्यावरण पैदा कर दिया है। सब-ट्रोपीकल प्रदेशो में दलदली भूमि के उद्धारीकरण ने मलेरिया जैसी बीमारी को समाप्त कर दिया है तथा इस प्रकार हजारों लोगों की जिन्दगी को बचाया है। इसी तरह पावर इन्जीनियरिंग के विकास ने मानव-आवास के सूक्ष्म जलवायु (Micro climate) को पूरी तरह से बदला है। वहाँ के लोगों के पास अब अनुकूल उष्णता से सम्पन्न घर हैं, गर्म पानी है, नगरपालिका के आवा-गमन के साधन हैं तथा काम करने की आधुनिक परिस्थितियाँ हैं। इस प्रकार का पर्यावरण किसी भी तरह विशुद्ध प्रकृति के पर्यावरण से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

मनुष्य का मानसिक व सामाजिक पर्यावरण —

अब तक हमने प्राकृतिक पर्यावरण तथा मानव कृत पर्यावरण की बात ही की है। लेकिन उसको ठीक से रखने एवं नये टेक्नो-जैव-जगत् में प्रवेश करने के लिये सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषण रहित बनाना बहुत आवश्यक है। और जब तक मनुष्य का मानसिक पर्यावरण सही नहीं होगा तब तक उसका सामाजिक पर्यावरण सुरक्षित नहीं रह सकता। वहाँ अपने लाभ के लिये मनुष्य प्रकृति को

क्षति पहुंचा रहा है, यहाँ मनुष्य मनुष्य को क्षति पहुंचा रहा हैं; वहाँ मनुष्य प्राकृतिक स्रोतों का शोषण कर रहा है, यहाँ मनुष्य मनुष्य का ही शोषण कर रहा है; वहाँ भौतिक पर्यावरण में मनुष्य रासायनिक टोक्जिक तथा गैसीय दूषित तत्वों को विर्सजित कर रहा है, यहाँ मनुष्य मनुष्य के ही खाद्य तथा अन्य जीवनोपयोगी पदार्थों में मिलावट कर उन्हें दूषित बना रहा है। फिर यह धन के सभी स्रोतों पर एकाधिकार की प्रवृत्ति, यह आपाधापी, यह उत्पीड़न, यह शोषण, यह अन्याय, यह बलात्कार, यह घूंस, यह धोखा, यह दरिद्रता, यह द्वेष-दुश्मनी, यह अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा क्या सामाजिक पर्यावरण के असन्तुलन का—उसके प्रदूषण का परिचायक नहीं है? अतः इस सामाजिक पर्यावरण के प्रदूषण को भी रोका जानाबहुत जरूरी है।

फिर मनुष्य का मानसिक पर्यावरण भी तो असन्तुलित है। उस पर भी तो बाहरी एवं भीतरी प्रभाव पड़ रहे हैं। उसमें भी तो तनाव हैं, दबाव है, चिन्ताएँ हैं। मनुष्य का मानस भी तो राग-रंजित है, द्वेष-दूषित है। वह भी तो रुग्ण है। अतः इस मानसिक पर्यावरण के प्रदूषण को रोकने के भी उपाय किये जाने चाहिए। भारत के वैज्ञानिक-धार्मिक मनीषियों ने इस क्षेत्र में बहुत काम किया है, मन को स्वच्छ, सन्तुलित तथा समता में रखने के सार्थक उपायों का अनुसंधान किया है, लोगों को समझाया है और कुछ अंशों तक अपना सही प्रभाव भी छोड़ा है। मन को संयमित, सन्तुलित एवं समरस रखना थोड़ा कठिन अवश्य है पर बराबर सम्यक् शीलाचरण, सही समाधि के अभ्यास एवं अनुभूतिमय प्रज्ञा से उसका सारा मैल धुल सकता है और वह आगे प्रदूषित होने से बच सकता है। और तभी वह असीम करुणा, मुदिता, समता एवं मैत्री की अवस्था में—सन्तुलन में जीवन-यापन कर सकता है। वस्तुतः मनुष्य का शुद्ध मानसिक पर्यावरण ही सामाजिक तथा प्राकृतिक पर्यावरण को सन्तुलित एवं प्रदूषण रहित बना सकता है—ऐसी हमारी धारणा है।

भारतीय संस्कृति का महत्त्व

— डॉ. प्रदीप त्रिखा, अजमेर

क्या संस्कृति वाकई महत्त्वपूर्ण है ? आज के परिपेक्ष मे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति हमें क्या सिखा रही है ? कहीं आधुनिकता की अन्धी दौड़ में हम अपनी संस्कृति के महानतम गुणों एवं मूल्यों को पीछे तो नहीं छोड़ रहे हैं ? कुछ यह और इनके अलावा बहुत-से ऐसे अन्य मूलभूत प्रश्न हैं जो आज के भारतीय समाज के सम्मुख मुंह बाये खड़े हैं और हमारी युवा पीढ़ी के आगे एक चुनौती है कि वह निर्णय करे कि उसको अश्लीलता की धुंध और आधुनिकता के धुएं में चलना है अथवा अपने देश की संस्कृति के पांच हजार वर्षों की धरोहर की रक्षा करनी है । मगर आज के परिपेक्ष को देखते हुये आज के सामाजिक वातावरण का यदि हम जायजा लें तो लगता है पाश्चात्य संस्कृति ने पुरातन भारतीय संस्कृति की काफी दुर्गति की है । आज जीवन पद्धति यह रह गई है कि अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये लक्ष्य तक पहुंचना ही जरुरी है, यह जरुरी नहीं कि मार्ग कौन-सा अपनाया जाये । यह तो भारतीय संस्कृति का मूल्य कभी था ही नहीं, यह असर है पाश्चात्य सभ्यता का । यही कारण है कि आज शिक्षित वर्ग ही त्रिशंकु बन कर रह गया है । अपनी स्वार्थ सिद्धि, दूसरे की भावनाओं के लिए कोई जगह न रखना, मानवीय मूल्यों को ताक पर रख छोड़ना, आधुनिक बनने व दिखने की होड़ में अपनी पहचान खो देना जैसे मुद्दे हमें इस विचार-बिन्दु की ओर इंगित करते हैं, कि हम गहन चर्चा करें कि, 'क्या हमारी भारतीय संस्कृति वाकई महत्त्वपूर्ण हैं' ?

भारतीय संस्कृति त्रियामी संस्कृति रही है—पहला उत्साह, दूसरा विनय और तीसरा त्याग है । 'उत्साह' में असीम शक्ति होती । भगवान राम का उत्साह ही तो था, जिससे वे रावण जैसे अनेकानेक राक्षसों से पृथ्वी को मुक्त करा सके । आधुनिक परिपेक्ष में देखें तो आज की युवा पीढ़ी में 'उत्साह' की क्या कमी है, मगर प्रश्न यह है कि कहीं वह इस उत्साह का दुरुपयोग तो नहीं कर रह या फिर ऐसे कार्यों में तो नहीं जो उन्हें भारतीय संस्कृति के मूल्यों से दूर ले जा रहे हों । 'विनय', भी भारतीय संस्कृति का ही एक महत्वपूर्ण आयाम है । 'विनय' से सृजन होता है भक्ति, ज्ञान एवं त्याग का । गुरु-शिष्य परम्परा यही सिखाती रही है, एकलव्य ने 'विनय' ही से गुरु ज्ञान प्राप्त किया, ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हमें भारतीय समाज के इतिहास में देखने को मिलते हैं । 'विनय' के साथ ही जुड़ा हुआ आयाम है 'त्याग' और वह भी ऐसा 'त्याग' जो जनहित में किया गया हो । आधुनिक भारत में टेगौर, गांधीजी, मदर टेरिसा आदि अनेकों ऐसे महापुरुष हुये हैं जिन्होंने समय-समय पर आ समाज को इन्हीं तीनों आयामों से अवगत कराया एवं दिशा प्रदान की एवं सत् मार्ग प्रशस्त किया । परन्तु आज के परिपेक्ष को देख कर यह लगता है, कि मानों या तो ये महापुरुष कभी भारत में हुये ही नहीं और यां फिर इनकी प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न-सा लग गया है । एक ओर देखने को

(शेष पृष्ठ 23 पर)

शब्द, अर्थ और कविता

—उषा सहवाल, अजमेर

पंडित जगन्नाथ ने कविता की परिभाषा इन शब्दों में दी है—

"रमणीयार्थ : प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।"

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द काव्य हैं। किन्तु यह रमणीय अर्थ क्या है ? इसका उत्तर स्वयं पंडित जगन्नाथ ने इस प्रकार दिया है-

"क्षणे क्षणे यन्वतामुपैति तदैव रूपं रमणीयताया ।"

याने क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाला रूप ही रमणीयता है। जो एक-सा नहीं रहता, जिसमें स्थिरता नहीं होती, जो क्षण-प्रति-क्षण बदलता रहता है तथा नवीनता धारण करता रहता है वही रूप सुन्दर है। सौन्दर्य के इसी पल-पल परिवर्तित रूप की पुष्टि कविवर विहारी ने अपनी सतसई के एक दोहे में इस प्रकार की है—

"लिखन बैटि जाकी छवि, गहि-गहि गरव गरुर ।
भये न केते जगत् के चतुर चितेरे क्रूर ॥"

अर्थात् जिस रूपवती नायिका की छवि का हू-ब-हू चित्र बनाने के लिए दुनिया भर के प्रसिद्ध चित्रकार, जिन्हें अपनी चित्रकारिता पर गर्व था, बैठे। लेकिन अपनी तूलिका एवं रंग की सारी क्षमता के बावजूद वे इस रूपवती युवती नायिका की सुन्दरता को वैसी-की वैसी आँक पाने में सफल नहीं हो पाये। उनका सारा घमण्ड चूर हो गया। ये कुशल चित्रकार क्यों हार गये ? इसके उत्तर में एक ही बात है, उस युवती का पल-पल परिवर्तित होने वाला सौन्दर्य जिसे वे एक क्षण नेत्रों में भर कर कागज या केनवास पर अंकित तो कर देते थे किन्तु दूसरे ही क्षण जब उसके मिलान करते देखते थे तो वह युवती के इस क्षण के सौन्दर्य से मेल नहीं खाता था, अनमेल हो जाता था। अतः उनका असफल हो जाना स्वाभाविक था। आखिर जो छवि उन्होंने अंकित की है, वह तो एक क्षण पुरानी-बासी छवि है जो उस क्षण के बीतने के साथ ही गत हो गयी। इस वर्तमान क्षण की छवि तो बिल्कुल नयी है—ताजा है।

यह बात साहित्य के क्षेत्र की है कला के क्षेत्र की है—सौन्दर्य शास्त्र की विषय-वस्तु है। किन्तु यह तो विश्व व्यापी यथार्थ है। यह Fiction नहीं Fact है। शायद इसी बात को लक्ष्य कर अंग्रेजी के महान् नाटककार शेक्सपीअर की कलम से ये शब्द निकले थे -

"Old order changeth yielding place to New."

प्रश्न उठता है कि ऐसी रमणीयता को, जो पल-पल में नया रूप धारण कर लेती है, किस प्रकार शब्दों में बांधा जाये ? एक क्षण की सुन्दरता का रूप पहले तो कवि-कलाकार की आँखों में उतरता है, फिर उसकी छाप उसके मस्तिष्क पर

(शेष पृष्ठ 23 पर)

भारतीय संस्कृति.... (शेष पृष्ठ 21 का)

मिलती है बढ़ती हुई धर्म-अंधता, एक धर्म के लोगों द्वारा दूसरे के अनुयायियों को जिन्दा जला कर मार देना, ऐसा तो कभी भी नहीं सिखाया भारतीय संस्कृति ने। कहने को तो भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र रहा है, 'खुद जीयो, औरों को भी जीने दो' मगर आज समाज की बागड़ोर ऐसे लोगों के हाथों में चली गई है, जिन्होंने भारतीय संस्कृति के मूलभूत मापदंड़ों को तोड़ने का बीड़ा उठाया है।

यह विकृति विषबेल की तरह हमारे समाज में फैल रही है, ऐसे वातावरण में युवा पीढ़ी एवं चन्द ऐसे लोग जो संकल्प लेकर समाज बदलने का दम रखते है उन्हें आगे आना चाहिये। यह कहना भी अनुचित ही होगा कि पाश्चात्य सभ्यता ही एक मात्र जिम्मेदार है हमारे समांज को दूषित करने में। कुछ तो खामियाँ हममें भी रही होंगी।

सुसंस्कृत लोग समुद्र में स्याही की एक बूंद के समान है, यही मुट्ठी-भर लोग आनन्द के भागीदार भी हैं, मगर प्रश्न यह भी है कि अगली पीढ़ी को देना क्या है। आज का युवा वर्ग पहले यह प्रश्न करता है—'इसका उसे क्या फायदा होने वाला है, तो इस शंका-निवारण का जवाब भी पहले से सोच लेना होगा। बताना होगा भारतीय संस्कृति के मापदंडों, आयामों, महाकाव्यों इत्यादि का उद्देश्य केवल मात्र मानव जीवन का चित्रण नहीं था बल्कि उनमें अधिक मूल्यवान् उनका प्रतीकात्मक महत्त्व था। इस महत्त्व को समझना जरूरी है। तभी हम संस्कृति को सही अर्थों में बचा सकेंगे, वरना शब्दों का बोझा तो ढ़ो ही रहे हैं। ❋

शब्द, अर्थ.... (शेष पृष्ठ 22 का)

अंकित होती है और फिर लेखनी या तूलिका के जरिये कागज अथवा केनवास पर उतरता है। अतः यह बात सही है कि सौन्दर्य भी मूल रूपाकृति का जो चित्र कवि-कलाकार के मस्तिष्क में बनता है वही उसकी उस क्षण की अनुभूति है। मस्तिष्क में बनी इसी रूपाकृति को—गहन अनुभूति को वह अपने शब्दों में हू-ब-हू उतारने का प्रयास करता है। इस प्रयास में वह जितना सफल होता है उतना ही वह सफल कवि अथवा कलाकार है।

शब्द स्थिर होते हैं। उनमें गति नहीं होती। अपनी अभिधात्मकता में उनके अर्थ भी स्थिर होते हैं—सीधे, सपाट, सामान्य। अतः स्थिर शब्दों में स्थिर अर्थ भरना कोई विशेष बात नहीं है। इस प्रकार की स्थिरता काव्य का प्रयोज्य नहीं है। काव्य का प्रयोज्य तो स्थिर शब्दों में अर्थ की गतिशीलता है। स्थिर शब्दों में अर्थ की यही गतिशीलता उसे क्षण-क्षण नया-नया रूप प्रदान करती है। इसे ही अगति में गति (Motion in motionlessness) कहा गया है, इसे ही स्थिरता में कैद गति Arrested motion) कहा गया है। इस प्रकार जो शब्द अर्थ की अपनी गतिशीलता बनाये रखते हैं वे ही काव्य के उपजीव्य हैं—क्योंकि वे काव्य के रमणीय अर्थ को पुराना नहीं पड़ने देते; हर क्षण उसमें नवीनता तथा ताज़गी भरते रहते हैं। ऐसे ही शब्द रमणीयार्थ के प्रतिपादक हैं—कविता हैं-काव्य हैं। ❋

पुस्तक-समीक्षा

पांखुरी-पांखुरी मन, मूल्य: 50/-, लेखक : धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल

"लिखता था स्याही से मैं, इस जिन्दगी का नाम,
पर लिखते-लिखते औचक यह हाथ हिल गया।"

कुदरत की कितनी सुन्दर-सुहानी देन है जिन्दगी। समय के पटल पर इसको टकेरते समय यदि अचानक थोड़ा-सा हाथ हिल जाये तो उसके अक्षर बिगड़ ही जायेंगे और जिन्दगी अधूरी रह जायेगी। कुछ ऐसा ही हुआ है "पांखुरी-पाखुरी मन" के लेखक के साथ जिन्दगी का संजोया हुआ खूबसूरत सपना जब बिखरता है तो पीड़ाभिसिक्त एक कारुणिक अहसास छोड़ जाता है मन में। जीवन की यह कठोर सच्चाई श्री धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल की अनुभूति पर किस तरह उतरती है—देखिए—

"मैंने सपना संजोया था
जो फूल-सा
पांखुरी-पांखुरी हो बिखरता गया।"

बहुत नजदीक से गुजरती है जिन्दगी। लेकिन गीतकार-कवि कहां जी पाता है उसे उसकी भरपूर समग्रता में। वह तो जीने की तमन्नाएं जुटाए देखता ही रह जाता है और जिन्दगी उसके सामने से निकल जाती है, वह उसका दामन तसल्ली से थाम ही नहीं पाता। शायद हर आदमी के साथ ऐसा ही होता है—

"गुजरी थी जिन्दगी मेरे
दर से गुजरती राह से,
मैं देखता ही रह गया हसरत भरी निगाह से।"

और ऐसे में जब नींद नहीं आती तो एक-एक कर उभरने लगती है पिछली पीड़ाएँ। अरमान टूटने लगते हैं। बेचैनी बढ़ जाती है। इस दर्द-भरी बेचैनी को शब्दों में जिस विस्तार और गहनता से उभारा गया है, वह लेखक की समर्थ लेखनी का ही काम है—

"अरमानों का सपना करवट
बेचैन बदलने लगता है
जब नींद न आती आंखों में।
घट जातीं है चुप छाती में
पीड़ा से सनी ये त्रासदियां,

रोती हैं
अपनी भूलों पर
पछतावों की पिछली सदियां।
यह भूगर्भी मन का लावा
चुपचाप पिघलने लगता है
जब नींद न आती आँखों में।"

'पाँखुरी-पाँखुरी मन' का गीतकार अपने ही निजी दुःख-दर्द का रोना नहीं रोता, उसे तो दुनिया-भर की चिन्ताओं का बोझ जिन्दगी-भर ढोना है। इसलिए वह अपनी आंखों से रात-भर जागते रहने का आग्रह करता है—

"दुनिया-भर का है बोझ
कलम को ढोना,
तुम जगना सारी रैन नैन! मत सोना।"
महसूस रहा यह बात
आज हर तबका,
यह दर्द तुम्हारा नहीं,
दर्द है सबका।
है हर आंसू अनमोल इन्हें मत खोना।"

उसने दुनियां को अपनी खुली आंखों से खूब देखा है। उसकी दुरंगी-दोगली चालों ने एक ओर उसके सात्विक अहम् को कचोटा है तो दूसरी ओर समग्र मानवीय समाज को आहत किया है—

"मन की शैय्या को तर्कों ने
बिकवा दिया
विश्वामित्री इन हाथों से बाजार में,
इस हिमालय को बिन बात
झुकवा दिया
कूटनीति के चक्रव्यूही व्यापार में।"

अतः उसका सारा अस्तित्व झकझोर उठता है, उसका पुंसत्व खौल उठता है और उसकी अनुभवी हड्डियां बारूदी संकल्प के साथ दुनिया के बेईमान इरादों से जुझ पड़ती है। सामाजिक अन्याय के प्रति उसकी विक्षोभित भावना का एक नमूना देखिए —

"सदियों दबी बारूद में
फिर आग लग गई,
फिर तिलमिलाई अस्मिता, फिर पीर जग गई।
हहरा गई कुण्ठित धरा,
गर्मा गया मौसम,
ठिठुरी हुई इन हड्डियों पर धूप उग गई।"

'पांखुरी पांखुरी मन' का गीतकार आश्वस्त है कि एक दिन आग्नेय चट्टानों के गर्भ में वर्षों से कैद सुप्त पोटास के स्रोत अपना रास्ता ढूँढ़ लेंगे, उनकी आग फूट निकलेगी और सड़ी-बासी पुरातन व्यवस्था को नष्ट कर जिन्दगी को नया अर्थ देगी- नई ताजगी देगी—

"फूट निकलेगी पत्थर से
युग की व्यथा,
मैंने पोटासी सोते जगा ही दिये,
अर्थ निकलेंगे इनके
कभी-न-कभी,
मैंने माटी में अक्षर उगा ही दिये।"

अब वह प्रेम और युद्ध की जिन्दगी एक साथ जीने का सामर्थ्य रखता है, धरातल की कठोर सच्चाइयों से घबराता नहीं। युद्ध की जलती हुई भूमि में भी— विपरीत माहौल में भी उसके अन्तःस्थल में गीत की—प्रीत की गंगा बह निकलती है। देखिए एक गीत का अंश—

"जग रात-भर लिखे हैं,
सीमा पर मन के मीत !
इन खन्दकों में लेटे
चुप प्रीत के ये गीत।
बन्दूक हाथ में है,
रोके हैं अपनी सांस,
है सनसनी हवा में
दुश्मन है आस-पास।
बस प्राण लेना-देना
है युद्ध की यह रीत।"

सच में जिन्दगी की सतही लहरों से गीतकार का मन ऊब गया है, इसलिए वह उसकी गहराइयों में डूब जाना चाहता है और दार्शनिक अन्दाज में बोल उठता है—

"चलो गहराइयों में अब
सतह पर जी नहीं लगता।"

वस्तुतः ये गीत—जैसी गजलें और गजल जैसे गीत बहुत-कुछ कहते हैं बातें मन की, जीवन की, जगत् की।

"पांखुरी-पांखुरी मन" के द्वितीय खण्ड में कुछ मुक्तक हैं और तीसरे खण्ड में कुछ मुक्त-बन्ध। एक-एक मुक्तक, एक-एक मुक्त-बन्ध एक-एक क्षणानुभूति की दास्तां समेटे है अपने आप में मधुर, तिक्त, कटु। बानगी के तौर पर एक मुक्तक देखिए—

"किननी ही साँझ आँख में गुमसुम उतर गयीं,
शातिर हवाएं भीड़ में जेबें क़तर गयीं,
चौराहा वन कर मैं खड़ा ही रह गया हूं मित्र !
चारों तरफ से चीरती राहें गुजर गयी।"

सचमुच मनुष्य एक चौराहा ही तो है जिस पर से होते हुए कितने ही लोग, कितनी ही घटनाएं, कितने ही अनुभव गुजर जाते हैं और वह मौन, अकेला, असहाय खड़ा देखता ही रह जाता है सब कुछ। उसकी पीड़ा को बंटाने के लिए राहें भी नहीं रुकतीं प्रत्युत उसका सीना चीर कर आर-पार निकल जाती हैं।

एक प्रशासक का कवि होना दुर्लभ संयोग है। मजिस्ट्रेट के पद की जिम्मेदारियां उसे भावना का पल्लू पकड़ने की इजाजत नहीं देती। हृदय और मस्तिष्क को अलग-अलग कर दिया गया है। लेकिन यह बात हमारे गले नहीं उतरती। असल में मानव समस्याओं से संबंधित जटिल प्रश्नों को सुलझाते समय मस्तिष्क को हृदय का और हृदय को मस्तिष्क का वांछित सहयोग लेना ही पड़ेगा। इससे मानवीयता को बहुत बल मिलेगा अन्यथा शुष्क वैचारिक प्रक्रिया में इसका रस ही सूख जायेगा और निखालिस भावुकता के वहाव में विवेक ही बह जायेगा। अतः दोनों का सम्यक् समन्वय जीवन में आवश्यक है। श्री सहवाल ने प्रशासक की भूमिका निभाते हुए भी कवि का जीवन जीया है, उन्होंने हृदय और मस्तिष्क के संगम पर खड़े होकर दुनिया को देखा है लौर अपने प्रशासनिक अनुभवों को बड़ी सादगी और ईमानदारी के साथ दो टूक शब्दों में अभिव्यक्त किया है। इस बात की गवाही उनके मुक्तकों व मुक्त-बन्धों में हर कहीं मिल जायेगी। देखिये, कुछ उदाहरण।

(1) काजल की कोठरी से
गुजरा हूं मैं जरूर,
मुमकिन है दामन पर कहीं
छोया - सा दाग हो।

(2) बन्दूक रख हमारे कन्धों पर
चला गये,
घुटता है दिल में आज भी
बारूद का धुवां।

(3) चश्मों के पीछे आंख की
नजरों के भ्रम मिले,
मेजों के ऊपर ऊंघते
कागज - कलम मिले;

देखा है हमने खोलकर
दुनिया की हर किताब,
टूटे हुए कानून सब
झूठे नियम मिले।

और बड़े मर्म की बात तो उन्होंने अपने इस मुक्तक में कही है जो हर संवेदनशील आदमी को उसकी तल-स्पर्शी गहराइयों तक पहुंचा देती है—

"टूटा सपन तो हम ऊँनींदी आँख हो लिये,
आहत विहग की फड़फड़ाती पाँख हो लिये,
श्मशान के अँधेरों पर लिख रोशनी का नाम,
हम जलते-जलते खुद चिता की राख हो लिये।'

अपने अस्तित्व को इस खूबी—इस गरिमा से मिटा देना कि चिता की तरह जलकर राख होते हुए भी मौत के अँधेरों में प्रकाश भर जाये—इससे बड़ी उदात्तता, इससे बड़ी आत्माहुति, इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है। श्री सहवाल की इस प्रकार की अनुभूति के बहुत से उदाहरण उनके गीतों में हर कहीं मिल जायेंगे जिनमें मिट्टी में गलता हुआ बीज अपनी गलन से फूटते हुये नवांकुर को देखता है और देखते-देखते मिट जाता है।

"पांखुरी-पांखुरी मन' के सबके अन्तिम सफे पर अन्ततः शीर्षक की एक छोटी-सी खुली कविता है जो इस पुस्तिका के गीतों और मुक्तकों से दूर अपना अलग ही वजूद बनाये हुए है। लगता है यह सारे भावनात्मक गीतों का वैचारिक तोड़ है—

"असत्य के पंजों से पंजा लड़ाना जरूरी है;
सत्य की झोली में
चुपचाप बैठकर
सुरक्षित महसूस करना बुझदिली है।
यह सोच मेरा अपना है,
मैं इसे किसी पर थोपना नहीं चाहता।"

वस्तुतः जीवन्त अस्मिता के विचार को किसी पर न थोपने की बात कहकर उसे और मारक बना दिया गया है, अब कोई क्यों न उसे मानेगा और क्यों न उससे परिचालित होगा।

कुल मिलाकर पाँखुरी-पाँखुरी मन' जीवन की तल-स्पर्शी गहराइयों की मर्मस्पर्शी अनुभूतियों का काव्यानुसंकलन है। "जिन खोजा तिन पाइयाँ" वाली कबीर की सत्योक्ति का अहसास तो इसकी गहराइयों में स्वयं उतरने से ही होगा।

**

श्री धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल सम्मानित

भगवान् श्री गोपीनाथ की जन्म शताब्दी के समापन पर दिनांक 20-12-98 को जम्मू में आयोजित भव्य समारोह में भगवान् गोपीनाथ ट्रस्ट, नई दिल्ली द्वारा अजमेर के श्री धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल को उनके लेखन के लिये प्रशस्ति-पत्र तथा रजत स्मृति-चिह्न से सम्मानित किया गया। इस सम्मान के लिये देश-विदेश की 28 प्रतिभाओं का चयन किया गया था, जिनमें श्री सहवाल भी एक हैं। अन्य सम्मानित व्यक्तियों में भारत सरकार के संचार मंत्री तथा जम्मू-कश्मीर राज्य के भूतपूर्व राज्यपाल श्री माननीय जगमोहनजी, जर्सी (यू. एस. ए.) के मेओर श्री ब्रेट शुंडलर, प्रोफे. ए.एन. धर, आस्ट्रेलिया के श्री फिलिप सिम्फेंदारफर, श्री एस.आर. मट्टू (न्यूयार्क), श्री अमतार टिक्कू (जिनेवा), डॉ. बालजी नाथ पंडित, प्रोफेसर सी. एल. गुप्ता (सांसद), प्रोफेसर जे. एन. शर्मा, लेफ्टीनेन्ट कर्नल (से. नि.), आर. के. लंगर, श्री मनोहर त्राक्रू (जरनलिस्ट), श्री एम. पी. के. कुट्टी (जरनलिस्ट), श्री एस. डी. रोहमेत्र (प्रधान सम्पादक दैनिक एक्सेलिसअर), श्री अवतार कृष्ण कल्ला, श्री अशोक रैना, श्री सी. वी. गोपीनाथ, श्री दिलीप लांगू, श्री कैलाश मेहरा, श्री मोतीलाल पुष्कर, श्री एम. एल. कुकलू, श्री पी. एन. कौल सायिल, श्री सुरेन्द्र जुत्सी, श्री टी. के. शिशु, श्रीमती उषा रैना, श्री वी. के. भट तथा विजय मालाजी हैं।

डॉ. अभिनव कमल रैना को मध्यमा प्रतिपदा फैलोशिप

अजमेर के प्रोफेसर को डॉ. अभिनव कमल रैना को फाउण्डेशन ऑफ इण्डोलोजी एण्ड कलचर, अजमेर की ओर से मध्यमा प्रतिपदा फैलोशिप-1999 प्रदान की गई। डॉ. रैना गत वर्ष यू. जी. सी. अनुदान पर फ्लोरिडा इन्टरनेशनल यूनिवर्सिटी (यू. एस. ए.) द्वारा ईकोटूरिज्म पर आयोजित कार्यशाला में भाग लेने गये थे जहां उन्हें हेरीटेज टूरिज्म ऑफ राजस्थान के लिये पोस्ट डॉक्ट्रल फैलोशिप-1998 प्रदान की गयी थी।

डॉ चमनलाल रैना को नागमणी फैलोशिप

ख्याति लब्ध पंजाबी लेखिका श्रीमती अमृता प्रीतम द्वारा फाउण्डेशन ऑफ इण्डोलोजी एण्ड कलचर, अजमेर के डॉ. चमनलाल रैना को वर्ष 1999 के लिये नागमणी फैलोशिप प्रदान की गयी तथा साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्र में उनके शोध कार्य के लिये 12,000/- रु. की राशि से पुरस्कृत भी किया गया।

सूचना

प्रकाशक का नाम	—	बी. एस. सहवाल
राष्ट्रीयता	—	भारतीय
पता	—	43/2117, सम्मादिट्ठी, धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर (राज.)-305008
मुद्रक का नाम	—	बी. एस. सहवाल
राष्ट्रीयता	—	भारतीय
पता	—	43/2117, सम्मादिट्ठी, धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर (राज.)-305008
स्वामी का नाम	—	बी. एस. सहवाल पुत्र श्री भीमसिंह सहवाल
सम्पादक का नाम	—	बी. एस. सहवाल
राष्ट्रीयता	—	भारतीय
पता	—	43/2117, सम्मादिट्ठि, धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर (राज.)-305008
प्रिंटिंग प्रेस का नाम	—	अरावली प्रिंटिंग प्रेस, झलकारी नगर, अजमेर
प्रकाशन का स्थान	—	43/2117 सम्मादिट्ठि, धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर।

सेवा में

....

....

....

प्रेषक—सम्पादक/प्रकाशक
'मध्यमा प्रतिपदा'
43/2117, 'सम्मादिट्ठी'
धोलाभाटा (निराला नगर) कालोनी
अजमेर—305008

अरावली प्रिंटिंग प्रेस, झलकारी नगर, अजमेर द्वारा श्री बी. एस. सहवाल प्रकाशक तथा मुद्रक के आदेश पर मुद्रित।

दूरभाष : (0145) 660739

मध्यमा प्रतिपदा

[भारत सरकार के समाचार-पत्र पंजीकरण विभाग, दिल्ली से पंजीकृत]
पंजीयन सं. 71279/98

शोध, साहित्य एवं समाज-सुधार के क्षेत्र में वैज्ञानिक सोच की पत्रिका

वर्ष : 2 **अंक : 11** **मई, 2000**

सम्पादक : बी. एस. सहवाल

संयुक्त सम्पादन : डॉ. अभिनव कमल रैना
(कला, संस्कृति एवं पर्यटन अनुभाग)

परामर्श : डॉ. चमन लाल रैना

फाउण्डेशन ऑफ इण्डोलोजी एण्ड कल्चर, अजमेर के सौजन्य से प्रकाशित

इस अंक में-

पृष्ठ सं.

(क) सम्पादकीय

1. सम्पादक की कलम से 1

(ख) विचार एवं नवीन शोध

2. इक्कीसवीं सदी में हिन्दी का स्वरूप 3
—प्रो. मंजु अवस्थी

3. बौद्ध धर्म : आक्षेप एवं भ्रान्तियां और उनका निवारण 5
—धम्मप्रिय वी. एस. सहवाल

4. कश्मीर शैव-दर्शन एवं शिव-शक्ति 16
—पं. जगन्नाथ सिव्बू

(ग) कला, संस्कृति एवं पर्यटन

5. राजस्थान : संस्कृति और पर्यटन 20
—डॉ. अभिनव कमल रैना

(घ) सृजन के क्षण

6. जीवन हैं कितना अनमोल 2
—अर्जुनसिंह राठौड़

7. वन्दना गीत —स्वामी रामगिरि 24

8. सीधे सम्वाद की जरूरत कवर पृष्ठ 3
—धम्मप्रिय वी. एस. सहवाल

(च) प्रकीर्ण

9. सन्देश अन्तिम आवरण पृष्ठ

10. जरा सोचें ,,

मध्यमा प्रतिपदा (द्विमासिक)

सहयोग राशि : 55.00 रु. वार्षिक, 300.00 रु. दस वर्षीय

मनीआर्डर अथवा चैक द्वारा, जो अजमेर स्थित किसी भी बैंक में भुगतान योग्य हो, भँवरसिंह सहवाल के नाम से सहयोग राशि 43/2117, सम्मादिट्ठि धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर के पते पर भिजवायें।

विशेष : इस पत्रिका में छपे लेखकों के विचारों से सम्पादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। अपने विचारों एवं तथ्यों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होगा।

—सम्पादक की कलम से

धर्म की वैज्ञानिकता का प्रश्न :

धर्म जीने की कला है। इस कला का आधार धर्म की सही समझ है। धर्म की सही समझ के लिए वैज्ञानिक दृष्टि की जरूरत है। और धर्म की इसी वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव इस देश के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ है।

धर्म को उसके वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में समझेंगे नहीं तो उसके अनुसार जीने का सही आकलन कैसे करेंगे ? अपने आचरण की सम्यकता के प्रति कैसे आश्वस्थ होंगे ? वस्तुतः धर्म की सम्यक् समझ से आदमी का आचरण ठीक होता है। यदि धर्म की समझ ठीक नहीं है तो आचरण के ठीक होने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

हमारे देश में तो इतने धर्म-मत हैं, इतने धर्म-गुरु हैं, इतने ईश्वर हैं, इतने देवता हैं, इतने मंदिर हैं, इतने ग्रंथ हैं, इतने प्रवचन हैं, इतने पाठ हैं, इतनी पूजा हैं फिर भी जन-जीवन में भ्रष्ट आचरण अपनी सीमा पर है और उसका कोई उपचार नहीं है। हिंसा, लूट, चोरी, झूठ, कपट, छल, मिलावट, व्यभिचार, नशा, स्वार्थ और न जाने क्या-क्या बेईमानियां दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही हैं, नैतिकता की धूल झड़ रही है, आडम्बरों का बोलबाला है, दोगलापन सिर चढ़कर बोल रहा है और हम सब यह जानते हुए भी कि ये चीजें ठीक नहीं है, इनसे देश सभी दृष्टियों से खोखला तथा कमजोर हो रहा है, फिर भी हमारा आचरण ठीक कर पाने में हम असमर्थ हैं। हम अपने इस भ्रष्ट आचरण के लिए दूसरों को दोषी ठहराने में ही लगे रहते हैं। असल में हमने धर्म को उसके वैज्ञानिक अर्थ में समझने की कोशिश ही नहीं की। उल्टे धर्म के प्रति अवैज्ञानिक धारणाएं ही पालीं। इसके जो परिणाम आने थे, वे सामने हैं। पिछले डेढ़-दो हजार सालों से हम अंधकार में ही जीते रहे हैं। धर्म को उसकी यथार्थता में न जी कर उसकी कल्पना-कथाओं में ही उलझते गये हैं और आज तो यह धूतक और भी जोरों पर हैं।

अभी हम पड़ौसी देश म्यांमार (बर्मा) गये थे। हमने देखा यंगोन (रंगून) में सैंकड़ों की तादाद में पगोड़ा (बौद्ध मंदिर तथा स्तूप) हैं। हर गली-स्ट्रीट में एक पगोड़ा तो मिल ही जाता है। हर पगोड़ा के द्वार पर शीशे के बड़े-बड़े दान-पात्र खुले में रखे हुए हैं। बौद्ध धर्म में दान का महत्त्व होने से हर बौद्ध नागरिक दान देता है। अतः दान-पात्र आये दिन वहाँ के करैंसी नोटों से भरे नजर आते हैं। दान पात्रों की रक्षा के लिए कोई गार्ड नहीं। फिर भी मजाल है कि उनकी तरफ चोरी की निगाह से कोई देख भी ले। हमारे देश में तो मंदिरों के गर्भ-गृहों में से मूर्त्ति तक चुरा ली जाती हैं, जूतों की तो बात ही छोड़ो, पुजारी-पण्डे लोग दर्शकों की जेबें खाली करवाने में कितने माहिर हैं--यह बात किसी से छिपी नहीं है। बर्मा जैसे गरीब देश में यह 'अदिन्ना दना वेरमणी' चोरी से विरत रहने का आचरण—कहां से आया ? उत्तर स्पष्ट है धर्म के प्रति उनकी

वैज्ञानिक दृष्टि से यह तो पंचशील में से एक शील की बात हुई। अन्य शीलों की— धर्माचरणों की बात कभी अलग से करेंगे।

न जाने हम क्यों धर्म की वैज्ञानिकता से कतराते रहे हैं और आज के इस वैज्ञानिक युग की 21 वीं सदीं में प्रवेश कर जाने का दम भरते हुए भी हम धर्म को उसके वैज्ञानिक अर्थ में समझने के लिए तैयार नहीं है। धर्म अन्दर की चीज है, हम उसे बाहर देख रहे हैं और इस में स्वार्थी लोगों का स्वार्थ पूरा हो रहा है। अतः धर्म के प्रति हमें अपनी परम्परागत मानसिकता को बदलना पड़ेगा और स्वार्थी तत्त्वों से सावधान रहना होगा। धर्म किस्से-कहानियों की चीज नहीं है, पूजा-पाठ की चीज नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो इस देश में स्वार्थ-जन्य भ्रष्टाचार, कदाचार, मजा-मौजवाद कभी न पनपता, जन-जीवन में विसंगतियां कभी न पैदा होती, धर्म के नाम पर अधर्म का बोलबाला न होता, देश के लोग चारित्रिक दृष्टि से मजबूत होते, संगठित होते, तनाव रहित होते, सुरक्षित होते। धर्म की वैज्ञानिकता को भीतर से जान-समझ लेने से ही आन्तरिक पुष्टता आयेगी और बाहरी आचरण सुधरेगा, अन्यथा स्थिति बद से बदतर होती चली जाएगी।

□□

जीवन है कितना अनमोल

● अर्जुनसिंह राठौड़

देख, तू तनिक तराजू तोल,
कि जीवन है कितना अनमोल,
इसे क्यों खोता है ?

कि मन का दर्पण तो हो साफ,
गगन उतरेगा उसमें आप,
प्यार का अमृत तो कुछ घोल
कि विष क्यों बोता है ?

स्वार्थ के बन्धन सारे तोड़,
जरा कुदरत से नाता जोड़,
कि अन्दर की घुण्डी कुछ खोल,
बोझ क्यों ढोता है ?

जगे पाँखी शुभ हुआ प्रभात,
कि बीती अन्धकार की रात,
तनिक तू अपनी आंखें खोल,
अभी तक सोता है ?

★★

२१वीं सदी में हिन्दी का स्वरूप

—**प्रो. मंजु अवस्थी** पी.एच.डी., डी. लिट, वालाघाट (म.प्र.)

किसी भी भाषा के ऐतिहासिक विकास पर यदि दृष्टि डाली जाये तो यह अत्यन्त स्पष्ट है कि भाषा का स्वरूप परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन भाषा-वैज्ञानिक की दृष्टि से देखें तो कभी ध्वनि-परिवर्तन के वहाने तो कभी अर्थ-परिवर्तन के मिस, शब्दों का स्वरूप बदल जाता है, उच्चारण प्रभावित हो जाता है। कभी लोक-भाषा साहित्यिक भाषा का चोला पहन कर खड़ी हो जाती है और जब तक साहित्य की भाषा आम आदमी की पकड़ से छूट प्रवुद्ध वर्ग की धरोहर बननी है, तब तक एक अन्य सामान्य लौकिक भाषा आकार ग्रहण करने के प्रयास में जुट जाती है। कुल मिला कर साहित्य और लोक-भाषा के बीच परिवर्तन की यह प्रक्रिया निरन्तर गतिमान् रहती है, जिससे संसार की कोई भी भाषा मुक्त नहीं है। वास्तव में मानव-विकास की संपूर्ण प्रक्रिया इस भाषा-परिवर्तन के साथ जुड़ी हुई है।

आज जब हम 21वीं सदी के द्वार पर खड़े हुए हैं, तब यह विचार प्रत्येक भाषा-जिज्ञासु के मन में प्रश्न-चिन्ह लिए खड़ा है कि 21वीं सदी में हिन्दी का का स्वरूप क्या होगा ? प्रश्न इसलिए और भी चिन्तनीय है क्योंकि स्वतंत्रता की अर्द्ध शताब्दी व्यतीत हो जाने पर भी इस देश की राष्ट्रभाषा अस्मिता और अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही है, अपनी अस्मिता की रक्षा हेतु परमुखापेक्षी बनी खड़ी है। यह कैसी विडम्बना है कि आज भी हिन्दी भाषा का स्वरूप निर्धारित नहीं हो सका है। अपने ही घर में वह अपरिचय के दंश को भोग रही है। उसके सभी आत्मीय खड़े उसकी इस अस्तित्व की लड़ाई को देख रहे हैं, किंतु कभी राजनीति के पर्दे के पीछे और कभी अर्थ-व्यवस्था के चरमराते स्वरूप के बहाने हम अपनी असमर्थता जता कर अपने दायित्वों की इतिश्री समझ लेते हैं। विडम्बना तो यह है कि आज हिन्दी द्रौपदी वनी अन्य भाषा-भाषी दु:शासनों से अपने स्वरूप को विकृत करवाते हुए भी मौन देख रही है। स्थिति गंभीर इसलिए और भी है कि इन दु:शासनों के लम्बे हाथ कभी उसे कलकतिया हिन्दी तो कभी बम्बईया हिंदी, कभी नागपुरी हिंदी तो कभी बिहारी हिंदी का बाना पहना कर अपना वर्चस्व निश्चित करना चाह रहे हैं। क्षेत्रीयतावाद उसके अंग-भंग कर उसे अपनी जीवन-शैली में ढालना चाह रहा है। इन विपरीत परिस्थितियों में वह किस स्वरूप को धारण करे, किन रूपों से स्वयं को अलंकृत करे -आदि प्रश्न हिन्दी के समक्ष उठ रहे हैं। आशंकायें और कुशंकायें आम आदमी को त्रस्त कर रही हैं। यह भी हो सकता है कि अखण्ड भारत की राष्ट्रभाषा की जो गरिमा उसे मिलनी चाहिए थी, वह उसे नहीं मिल पाने से 21वां सदी में वह खण्डित होकर अनेक रूपा

बन जाए। भारत के प्रत्येक प्रांत की भाषा उसे अपने रूप में ढ़ाल कर उसे अपनी अनुसारिणी बना ले। राष्ट्रभाषा का यह खण्डित रूप राष्ट्र की एकता को प्रभावित करेगा। यह भी हो सकता है कि हिन्दी अनेक भाषा-भाषियों के व्यक्तिगत स्वरूप को ग्रहण कर संपूर्ण देश को एक-सूत्र में बाँध ले। और यह भी तो हो सकता है कि जब विश्व में हिन्दी दूसरे स्थान पर विराजमान् है, तो वह इतनी उदार हो जाये कि संसार भर की समस्त भाषाओं के शब्दों, ध्वनियों को वह स्वीकारे और अपने राष्ट्र की सीमाओं का अतिक्रमण कर विश्व रंगमंच पर आरूढ़ हो कर अपने महत्त्व को स्थापित कर सके। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से युक्त हिन्दी 21वीं सदी में अत्यन्त उदात्त होकर अपने आँचल में विश्व के अनेक शब्दों को समेट कर स्वयं को नये और विशद् धरातल पर खड़ा करने में समर्थ हो जायेगी। सच मानिये भाषा अध्येता होने के कारण आशावादी दृष्टिकोण ही रखना उचित होगा और विपरीत परिस्थितियों में भी 21 वीं सदी भारत के साथ हिन्दी के स्वरूप को भी विश्व रंगमंच पर इस रूप में स्थापित करने में सफल होगी, जिससे पूर्व के द्वार पश्चिम के धरातल पर उन्मुक्त होकर हिन्दी को सर्व सम्पन्न बनाकर राष्ट्रभाषा ही नहीं विश्व-भाषा के रूप में स्थापित करने में सफल हो सकेगी। अनेक संभावनाघों के चलते हिन्दी भारत के उन्नयन का कारण बनेगी। यह सत्य है कि उसके स्वरूप में विश्व भर की भाषाओं का समन्वय होगा। इसी आशावादिता के साथ विचारों की अबाध धारा को यहीं बाधित कर रही हूं।

——

बौद्ध धर्म : आक्षेप एवं भ्रान्तियां और उनका निवारण

—धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल

(गतांक से आगे)

नास्तिकता का आक्षेप :

बुद्ध तथा उनके धर्म पर दूसरा सबसे बड़ा आक्षेप नास्तिकता का लगाया जाता है। इस आक्षेप की संगतता पर विचार करने से पूर्व यह देख लेना जरूरी होगा कि नास्तिक शब्द का क्या अर्थ है और उस अर्थ का क्या आधार है ?

(1) **आस्तिक तथा नास्तिक की धारणा** – संस्कृत की अस् धातु से 'अस्ति' शब्द निष्पन्न हुआ है तथा इससे आस्तिक और नास्तिक शब्द बने हैं। पतंजलि (ईसा पूर्व लगभग 150) के अनुसार आस्तिक वह है जो 'अस्ति' अर्थात् 'है' को मानता है और नास्तिक वह है, जो 'अस्ति' अर्थात् 'है' को नहीं मानता। परन्तु इस 'अस्ति' के अर्थ का आधार क्या है ? भारतीय साहित्य में इस प्रश्न का उत्तर बदलता रहा है। पूर्व में इसका आधार परलोक था जिसके अनुसार जो व्यक्ति,विचार अथवा दर्शन परलोक में विश्वास करे वह आस्तिक और जो उसमें विश्वास न करे वह नास्तिक कहलाता था। इस आधार पर बुद्ध तथा उनका धर्म-दर्शन चार्वाक-दर्शन को छोड़कर अन्य दर्शनों की भाँति आस्तिक ही था क्योंकि वह परलोक को मानता था। इसके बाद अस्ति शब्द के अर्थ का आधार बदलकर वेद हो गये। इससे आस्तिक वे कहलाने लगे जो वेदों की सत्ता को स्वीकारते थे और नास्तिक वे हो गये जो वेदों की सत्ता को नहीं मानते थे। इस प्रकार न्याय, सांख्य, योग, वेदान्त तथा मीमांसा दर्शन आस्तिक हो गये और चार्वाक (लोकायत) बौद्ध तथा जैन दर्शन नास्तिक हो गये। परन्तु आधुनिक युग में आते-आते भारतीय साहित्य में 'अस्ति' शब्द के अर्थ का आधार ईश्वर हो गया। इससे ईश्वर में विश्वास करने वाला आस्तिक और ईश्वर में विश्वास न करने वाला नास्तिक अर्थात् अनीश्वरवादी माना जाने लगा। आज ये आस्तिक तथा नास्तिक शब्द इन्हीं अर्थों में रूढ़ होकर प्रचलित हो गये हैं। इसी आधार पर बुद्ध तथा उनके धर्म-दर्शन को नास्तिक कहा जाने लगा है।

(2) **ईश्वर की परिकल्पना और आस्तिकता** – डॉ. इन्द्रचन्द्र शास्त्री के अनुसार 'ईश्वर' शब्द का उल्लेख 'अंगुत्तर निकाय' के तिकनिपात सुत्त में आया है। इस सुत्त में ईश्वर के विषय में निम्नलिखित बातें आयी हैं—

भगवान् कहते हैं—'हे भिक्षुओ, जो लोग ऐसा कहते और मानते हैं कि मनुष्य प्राणी जो कुछ दुःख, सुख या उपेक्षा भुगतता है वह सब ईश्वर द्वारा निर्मित है, उनसे मैं पूछता हूं कि क्या तुम ईश्वर द्वारा निर्मित होने से ही प्राण-घाती, चोर, अब्रह्मचारी, असत्यवादी, चुगलखोर, गाली-गलौच करने वाले, बकवास करने वाले, दूसरों के धन की इच्छा करने वाले द्वेष्टा और मिथ्या दृष्टिक

बन गये हो ? हे भिक्षुओ, यदि यह सत्य माना जाए कि सब ईश्वर ने ही उत्पन्न किया है तो (सत्कर्म के प्रति) लग्न और उत्साह नहीं रहेगा, यह भी समझ नहीं आयेगा कि अमुक कर्म करना चाहिए, अमुक कर्म नहीं करना चाहिए।'

इस ईश्वर का उल्लेख देवदह सुत्त में भी आया है। परन्तु मन में ऐसी दृढ़ शंका उत्पन्न होती है कि ये बातें प्रक्षिप्त होंगी, क्योंकि दूसरे किसी भी सुत्त में यह कल्पना नहीं मिलती।

बुद्ध के समय तो बड़ा देवता ब्रह्मा अथवा ब्रह्मदेव था जिसे सृष्टि का कर्त्ता बनाने का प्रयत्न तत्कालीन वैदिकों ने किया था—'ब्रह्म देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता'—मुण्डकोपनिषद्। किन्तु वे उस समय की श्रमण संस्कृति के सामने सफल नहीं हो पाए। अतः उन्होंने इस 'ब्रह्मा' अथवा 'ब्रह्मदेव' शब्द को छोड़ दिया और उसके स्थान पर उन्हें ब्रह्म जैसे नपुंसक लिंग शब्द को स्वीकार करना पड़ा और लगभग सभी उपनिषदों में इस 'ब्रह्म' शब्द को ही महत्व देना पड़ा। इस ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसकी एक कल्पना इस प्रकार मिलती है—सबसे पहले केवल पुरुष रूपी आत्मा ही था। ... उसका मन नहीं लगा। वह दूसरे की इच्छा रखने लगा और जैसे स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को आलिंगन देते हैं, वैसे होकर रहा। उसने अपने को द्विधा कर लिया। इससे पति और पत्नी का निर्माण हुआ। इससे यह शरीर (द्विदल धान्य के दल) के समान है। बृहदारण्य उपनिषद् (5/5/1) में जगत् कर्त्ता ब्रह्म की उत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है—'सबसे पहले केवल पानी (आप) था। उस पानी ने सत्य को, सत्य ने ब्रह्म को, ब्रह्म ने प्रजापति को और प्रजापति ने देवों को उत्पन्न किया, वे देव सत्य की ही पूजा करते हैं।'

ईश्वर जगत् से भिन्न है और उसने इस सृष्टि का निर्माण किया है—यह कल्पना भारत में शायद शक लोग लाये थे क्योंकि उससे पहले के वाङ्मय में यह इस रूप से नहीं पाई जाती। अतः बुद्ध पर यह आक्षेप लगाना सम्भव ही नहीं है कि वे ईश्वर को नहीं मानते थे इसलिए नास्तिक थे। वस्तुतः किसी भी सत्ता में विश्वास प्रायः श्रेष्ठ जीवन बिताने में व्यवधान उत्पन्न करता है तथा उसका चिन्तन प्रायः निष्क्रियता को जन्म देता है और उत्तरदायित्व की भावना को कमजोर करता है। इस संबंध में भारतीय दर्शन-शास्त्र के अध्येता श्री के. दामोदरन के विचार उल्लेखनीय हैं—'सांख्य, वैशेषिक और न्याय ईश्वर से इन्कार करते हैं और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का मूल ब्रह्म अथवा परम चेतना के आदर्शवादी सिद्धान्त को नहीं वरन् एक अथवा दूसरे भौतिकवादी सिद्धान्त को मानते हैं। तो भी वे नास्तिक नहीं बल्कि आस्तिक दर्शन माने जाते हैं—सिर्फ इस कारण कि वे 'वेदों' को स्वीकार करते हैं। लोकायत, जो भौतिकवादी विचारधारा पर दृढ़ता से आधारित है, नास्तिक दर्शन कहा जाता है। किन्तु इसका कारण उसका भौतिक-

वादी आधार नहीं, वरन् उसका वेदों की सत्ता को न मानना है ।' वैदिकों ने किसी भी ऐसे दार्शनिक दृष्टि-बिन्दु के पनपने का पूरी ताकत से विरोध किया जो स्वयं उनके संकीर्ण स्वार्थों के हित में नहीं था । वेदों की सत्ता और वैदिकों के कर्मकाण्डों का विरोध करने वालों को भयंकरतम दण्ड देने की धमकियां दी गई थीं और बौद्धों को तो धमकियां ही नहीं दी गई बल्कि पुष्यमित्र शुंग ने बौद्ध भिक्षुओं का सिरच्छेदन करने की आज्ञा भी दे दी थी ।

(3) **कर्म तथा कर्मफल का वैज्ञानिक सिद्धान्त और आस्तिकता**—वस्तुत: बुद्धकालीन युग में आस्तिक और नास्तिक की व्याख्या उसके बाद की तथा आज की व्याख्याओं से भिन्न थी । उन दिनों जो लोग कर्म तथा कर्म-फल के वैज्ञानिक सिद्धान्त को नहीं मानते थे और इसलिए यज्ञ, होम, दान को नहीं स्वीकारते थे, न माता-पिता की सेवा को महत्त्व देते थे, ऐसे लोग नास्तिक कहलाते थे । बुद्ध ऐसी मान्यता को मिथ्या दृष्टि कहते थे । और जो लोग कर्म और कर्म-फल के नैसर्गिक सिद्धान्त को मानते थे, यज्ञ होम दान तथा माता-पिता की सेवा आदि के सत्फल को स्वीकारते थे, वे आस्तिक कहलाते थे । बुद्ध ऐसी मान्यता को सम्यक् दृष्टि कहते थे । बुद्ध ने तो यज्ञ का भी समर्थन किया है, बशर्ते वह हिंसक न होकर अहिंसक हो तथा जिसमें सही दान देने का प्रावधान हो ।

अत: किसी भी नैतिक एवं सम्यक् दृष्टि से बुद्ध तथा उनके धर्म-दर्शन को नास्तिक कहना उचित नहीं है ।

राष्ट्र को कमजोर करने का आक्षेप—

भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न उठाकर बौद्ध धर्म को उसकी दुर्बलता के लिए उत्तरदायी ठहराया गया है । इस प्रकार के विचार प्रथम बार देश के जाने-माने विद्वान् वीर विनायक दामोदर राव सावरकर द्वारा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक—'इतिहास के छः स्वर्णिम पृष्ठ---प्रथम भाग' में जोरदार शब्दों में व्यक्त किए गए हैं । अतः अन्य आक्षेपों की तुलना में यह आक्षेप अधिक गम्भीर हो जाता है । श्री सावरकर द्वारा व्यक्त विचारों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना हम अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं कि वे भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के अन्यतम जुझारू योद्धा थे और इस कारण अपने कष्ट-साध्य जीवनोत्कर्ष के लिए वे हमारी श्रद्धा के भाजन हैं—पूज्य हैं । किन्तु साथ ही इस संबंध में व्यक्त उनके विचारों में कितनी सत्यता है--इसका उद्घाटन भी करना चाहते हैं अन्यथा भारतीय वायु-मण्डल में उनके विचारों से पैदा हुई भ्रान्त स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रह जायेगी ।

अपनी उक्त पुस्तक के पृष्ठ संख्या 58-59 पर श्री सावकर ने इस आक्षेप

का प्रकरण इस प्रकार प्रारम्भ किया है—'अधिकांश इतिहासज्ञों की समझ में बौद्ध धर्म वेद-प्रामाण्य को न मानने तथा निरीश्वरवादी होने के कारण तत्कालीन वैदिक धर्माभिमानी जनता ने उसका प्रबल विरोध किया और उस कारण अन्ततोगत्वा भारत से वह धर्म नामशेष हो गया। परन्तु आज तक दृढ़ीभूत हुई यह मान्यता पूर्णत: सत्य नहीं है। ....बौद्धों के प्रति जो चिढ़ उत्पन्न हुई उसका मुख्य कारण केवल तात्विक अथवा बौद्धिक ही नहीं था, उसमें राष्ट्रीय और राजनैतिक कारण भी विद्यमान थे।'

इसमें कोई संदेह नहीं कि बुद्ध तथा उनका धर्म वेद-प्रामाण्य एवं ईश्वर जैसी धारणा को न मानने वाला तो है पर ऐसा न मानने से भारत-भूमि पर से वह विलुप्त अथवा नामशेष नहीं हुआ। यदि यही कारण होता तो जैन धर्म भी नामशेष हो जाता। वेद-प्रामाण्य को न मानना एक बात है, वेदों की निन्दा करना दूसरी बात। इसी तरह अनीश्वरवादी होना एक बात है, ईश्वर का खण्डन करना दूसरी बात। वस्तुत. बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के प्रति वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मण आदि जनता के मन में उत्पन्न जिस 'चिढ़' शब्द का प्रयोग उन्होंने किया है भारत में उसके नामशेष होने का सारा श्रेय इसी 'चिढ़' को जाता है। इस सम्बन्ध में हम अपने सविस्तार विचार पूर्व में ही व्यक्त कर चुके हैं। किन्तु ये राष्ट्रीय और राज-नैतिक कारण क्या थे ? आइये इस सम्बंध में कुछ प्रश्नों पर विचार करें।

(1) अशोक द्वारा वैदिक धर्मावलम्बी जनता के धर्म परिवर्तन का प्रश्न—सावरकर ने बौद्ध धर्म के भारत में नामशेष होने का मुख्य कारण तात्त्विक अथवा बौद्धिक ही न बताते हुए राष्ट्रीय तथा राजनैतिक भी बताया है। ये राष्ट्रीय एवं राजनैतिक कारण क्या हैं—इसका खुलासा उन्होंने अपने आगे के विचारों में किया है और उनके ये ही विचार यहाँ मुख्य रूप से विचारणीय हैं। इस सम्बंध में उनका प्रथम विचार है- यज्ञ आदि को हिंसा प्रधान मान कर अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में उसने प्रतिबन्ध लगा दिया था। उस यज्ञ को राजदण्ड के बल से अकस्मात् दण्डित घोषित करने पर अशोक के साम्राज्य की अस्सी प्रतिशत ब्राह्मण,क्षत्रिय आदि वैदिक जनता में कितना क्षोभ उत्पन्न हुआ होगा,इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। अशोक ने मृगया को निषिद्ध और दण्डित घोषित किया था। वैदिक धर्म के अनुसार मृगया क्षत्रियों का एक मुख्य कर्त्तव्य माना गया था।'*

---

* इतिहास के छः स्वर्णिम पृष्ठ—प्रथम भाग पृ. सं. 59

'वैदिक धर्मावलंबियों का अशोक द्वारा बलात् धर्म परिवर्तन' शीर्षक के तहत व्यक्त उक्त विचार तत्कालीन बौद्ध सम्राट् अशोक पर सीधा आरोप है। अत: प्रश्न उठता है क्या सम्राट अशोक ने बलात् धर्म परिवर्तन कर लोगों को बौद्ध बनाया था ? सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता। क्या हिंसात्मक यज्ञों पर प्रतिबन्ध लगाना ही वैदिक धमविलम्बियों के बलात् धर्म-परिवर्तन की परिभाषा में आता है ? यज्ञों में इस प्रकार निरीह पशुओं की निर्मम हिंसा करने-कराने का वेद का मूल प्रयोजन भी नहीं था। बुद्ध ने तो कल्याणकारी अहिंसक यज्ञों तथा उन अवसरों पर विशुद्ध दान की भावना का समर्थन तक किया है। अशोक ने अपने साम्राज्य में ऐसे कल्याणकारी हिंसाविहीन यज्ञों पर कभी भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया। पर तथाकथित वैदिकों तथा उनके अन्य समर्थकों को तो विशुद्ध यज्ञ नहीं, यज्ञ में गाय, बछड़े, भैंसें, बकरे, भेंड़ जैसे पशुओं की हिंसा ही श्रेयस्कर लगती थी। इसीलिए सम्राट् अशोक द्वारा अपने साम्राज्य में हिंसा के विरुद्ध लगाये गये प्रतिबन्धों पर इतना और ऐसा आक्रोश सावरकर व्यक्त कर गये। इसके अतिरिक्त मृगया अथवा वन्य पशुओं के शिकार के विरुद्ध विधिक दण्डात्मक प्रावधान को भी उन्होंने बलात् धर्म परिवर्तन का कारण बता दिया। यह 'धर्म-परिवर्तन' शब्द भारतीय इतिहास में मुगलों के भारत-प्रवेश के साथ ही अस्तित्व में आया था और बाद में ईसाइयों के काम की चीज बन गया। यह शब्द स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तो देश में और भी प्रचलित हो गया। शायद सावरकर ने इसे यहीं से उठा लिया है और अशोक कालीन प्राचीन भारत के इतिहास में भी थोपने का प्रयास किया है। यह ठीक नहीं है। क्षत्रियों का मुख्य कर्त्तव्य तो देश की रक्षा करना तथा न्याय के आधार पर उस पर शासन करना बताया गया है। यह मृगया करना कहां से आ गया ? मृगया क्षत्रिय का शौक हो सकता है. पर मुख्य कर्त्तव्य कैसे हो गया ? कौन बताये ?

(2) बौद्ध भिक्षु और शस्त्र-बल पर कुठाराघात का प्रश्न: साम्राज्य के शस्त्र-बल पर कुठाराघात का आरोप लगाते हुए श्री सावरकर ने अपनी उक्त पुस्तक में दूसरा विचार इस प्रकार प्रकट किया है—'शस्त्रधारी तथा वीर वृत्ति के किसी भी सैनिक की अपेक्षा कोई मुफ्तखोर भटकने वाला भिक्षु अधिक सम्माननीय और धर्मात्मा समझा जाने लगा। ... अशोक ने दूसरे धर्म में भी पाये जाने वाले इस वाक्य को - 'शस्त्र-विजय की अपेक्षा धर्म-विजय अधिक श्रेष्ठ है'—अपने स्तम्भों पर अंकित किया है, परन्तु इस प्रकार की धर्म-विजय इस लौकिक संसार में सम्भव भी है क्या ?'

यहां श्री सावरकर का शायद यही मन्तव्य है कि एक बौद्ध भिक्षु नहीं बल्कि एक शस्त्रधारी सैनिक उसकी तुलना में अधिक सम्मानीय है किन्तु अशोक ने इसे उलटा दिया। परन्तु यदि यही बात उनसे यों पूछी जाती कि क्या एक वैदिक ऋषि

या मुनि भी एक सैनिक की अपेक्षा कम सम्मान का अधिकारी है तो शायद वे व्यग्र हो उठते। फिर उन्होंने तो बौद्ध भिक्षु को 'मुफ्तखोर' एवं 'भटकने वाला' भी कहा है। उन्होंने यह भी नहीं सोचा कि विश्व व्यापी बौद्ध धर्म के अनुयायी पड़ौसी देश जब उनके पवित्र बौद्ध भिक्षु के प्रति लिखे गये ये शब्द पढ़ेंगे तो उनके मन में क्या प्रतिक्रिया होगी? वस्तुत. चिढ़ या विक्षुब्धता की स्थिति में मन का सन्तुलन खो जाता है और आदमी को उचित-अनुचित, सुष्ठु-असुष्ठु शब्दावली का ध्यान तक नहीं रहता।

'मुफ्तखोर' और 'भटकने वाला' ये दोनों ही शब्द असम्मान जनक हैं और इससे सावरकर का बौद्ध भिक्षुओं के प्रति मनोभाव प्रकट होता है। मुफ्तखोर शब्द का अर्थ होता है 'वह व्यक्ति जो स्वयं परिश्रम न कर उदर-पूर्ति हेतु दूसरों के भोजन पर निर्भर रहता है।' स्वयं बुद्ध तथा उनके संघ के भिक्षु अन्यों द्वारा दान स्वरूप दिया गया भोजन ही ग्रहण किया करते थे, आज भी बौद्ध-भिक्षु ऐसा ही करते हैं: बुद्ध तथा उनके बाद सम्राट् अशोक के समय तक बड़े-बड़े क्षत्रिय राजकुमार, श्रेष्ठि-कुमार, सम्पन्न ब्राह्मण कुमार एवं अन्य वर्गों के लोग बौद्ध धर्म में प्रव्रजित होकर भिक्षाटन करते थे। तो क्या उन्होंने भोजन कमाने के परिश्रम से बचने और मुफ्त की रोटियाँ भिक्षा में अपनाने के लिए अपना राज्य-सुख, अपनी धन-सम्पत्ति तथा वैभव छोड़ा था? वे बोधि की खोज में निकले थे, शील-सम्पन्न थे, विनयशील थे। उनका सात्विक जीवन तो सम्यक् ज्ञान के प्रति, सच्ची धर्म-साधना के प्रति तथा लोक-कल्याण के प्रति समर्पित था। अत: उनके प्रति यह द्वेष-जन्य मनोमालिन्य किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। फिर बौद्ध भिक्षु तो चौबीस घण्टों में एक बार भोजन करते थे वह भी रूखा-सूखा जो भी दान स्वरूप मिल जाय और उसके बदले वे लोगों को शुद्ध आचरण का उपदेश ही नहीं देते थे बल्कि उसका उदाहरण भी प्रस्तुत करते थे। यह दूसरों का माल मारने वाली मुफ्तखोरी तथा मजा-मस्ती नहीं है। प्रत्युत् मुफ्तखोर तो वे असंख्य साधु-संन्यासी-पुजारी-पण्डे हैं जो मन्दिरों-मठों में अखाड़े जमाये बैठें हैं, अपने ईश्वर तथा देवता के प्रसाद के रूप में चरस, गांजा, सुल्फे तथा भंग का नशा करते हैं और चक छानते हैं। आप कभी उनके पेट की ओर देखना—बाहर निकला हुआ ही मिलेगा। वे तो किसी घाट विशेष पर गंगा में प्रथम स्नान करने के लिए हिंसा तक पर उतारू हो जाते हैं और देश की सरकार को—प्रशासन को उनके बीच में आना पड़ता है। इनके अतिरिक्त वे मठाधीश हैं जो जनता की अरबों-खरबों रुपयों की सम्पत्ति बटोरे बैठे हैं--जिनकी सुख-सम्पन्नता का कोई हिसाब-किताब नहीं। क्या ये सब अपनी रोटी स्वयं कमाते हैं और अपने परिश्रम के बल पर ठाठ का जीवन जीते हैं? क्या ये अपनी मुफ्त की इतनी अपार धन-सम्पत्ति में से देश की रक्षार्थ एक कौड़ी भी ढीली करते हैं और घर-घर, द्वार-

द्वार पहुंच कर क्या लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा भी देते हैं और वैसी ही प्रेरणा का स्वयं भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ?

इसी तरह बौद्ध-भिक्षु के प्रति प्रयुक्त किया गया दूसरा शब्द है 'भटकने वाला' जिसका अर्थ है 'वह व्यक्ति जो बिना किसी प्रयोजन अथवा उद्देश्य के निरर्थक इधर-उधर घूमता-फिरता रहता है, जो अपने मार्ग से हट गया है और कोई भी निश्चित मार्ग नहीं पकड़ पाया है।' क्या इन अर्थों में बौद्ध-भिक्षु भटकने वाले हैं ? ज्ञान-प्राप्ति और मुक्ति के पारमार्थिक महान् उद्देश्य को लेकर उन्होंने अपना गृह-त्याग किया है और उस महान् कारुणिक बुद्ध द्वारा अन्वेषित सद्धर्म पर—आर्य अष्ठांगिक मार्ग पर वे चले हैं—शान्त भाव से, सन्तुलित कदमों से, गम्भीर औदात्य से। क्या ये उनके भटकने के लक्षण हैं ? हमारी आंखों को हुआ सो तो हुआ, पर हमारी चिन्तनशील बुद्धि को क्या हो गया है ? हम क्यों सम्यक् दृष्टि से, वैज्ञानिक ढंग से, तटस्थ भाव से चीजों को नहीं देख पाते, सोच नहीं पाते, पकड़ नहीं पाते। इस सम्बंध में हमें बहुत गम्भीर होना पड़ेगा अन्यथा इस देश की सच्ची आध्यात्मिक गरिमा को हम सम्भाल नहीं पायेंगे और यह देश समग्र मानवीय वैज्ञानिक चिन्तन की दौड़ में काफी पीछे छूट जायेगा।

अब हम इस विचार के मुख्य-बिन्दु पर आते हैं कि क्या शस्त्र-विजय की अपेक्षा धर्म-विजय अधिक श्रेष्ठ नहीं है ? और क्या सम्राट् अशोक द्वारा शस्त्र-विजय की तुलना में धर्म-विजय के श्रेष्ठ होने की बात अपने स्तम्भों पर अंकित करवा देना गलत था ? यह सही है कि अशोक ने शस्त्र से कलिंग विजय प्राप्त कर अपनी चण्डता का परिचय दिया था परन्तु क्या वह युद्ध-भूमि में आहत व मरते हुए सैनिकों की कराह से, उनकी माताओं, पत्नियों के रुदन से स्वयं भी आहत नहीं हो गया था ? क्या एक सम्राट् को हृदयहीन भी होना चाहिए ? प्रकृति की सर्वोत्तम कृति मानव की सुरक्षा के लिए ही नहीं प्राणी मात्र की सुरक्षा के लिए अशोक का बौद्ध हो जाना क्या पाप-कर्म था ? मनुष्य को मार कर यदि मनुष्य को प्रसन्नता होनी है तो ऐसे मनुष्य के लिए हमारे साहित्य में एक नये अर्थ वाला शब्द गाढ़ा गया था—राक्षस।

हम इस बात का पूर्व में भी उल्लेख कर चुके हैं कि बुद्ध के धर्म-बल के सामने क्रूर हिंसक अंगुलिमाल का शस्त्र-बल काम नहीं आया था। उसके शस्त्र ने धर्म के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया था। अंगुलिमाल राक्षस से मनुष्य, मनुष्य से देवता हो गया था और उसके बाद भव-भय से मुक्त होकर अरहंत-पद प्राप्त कर गया था। शस्त्र के मुकाबले शस्त्र खड़ा हो जाएगा पर धर्म के मुकाबले कौन खड़ा होगा ? इसलिए अशोक ने शस्त्र-बल की अपेक्षा धर्म-बल का डंका बजाया और अधिक से अधिक दुनिया में विजय प्राप्त की। भला वह शस्त्र-बल से और कितने कलिंग जीत पाता और यदि उसके जैसा व्यक्ति ऐसा कर भी पाता तो क्या

शस्त्र-बल के आधार पर प्राप्त विजय हमेशा के लिए स्थिर रह पाती ? लेकिन शस्त्र-बल की अपेक्षा धर्म-बल से अशोक ने जो विश्व-विजय प्राप्त की थी वह आज भी अक्षुण्ण है—स्थायी है। इसके लिए उसने विभिन्न देशों में बौद्ध-भिक्षुओं को धर्म-दूत के रूप में भेजा। और तो और अपनी प्रिय पुत्री संघमित्रा और राजकुमार पुत्र महेन्द्र को भी अन्य देशों में भेजा और इतने बड़े धर्म-साम्राज्य की स्थापना की। क्या इसी लोक की यह व्यवहारगत हकीकत अथवा उपलब्धि नहीं थी ? श्री सावरकर अब इस दुनिया में जीवित नहीं हैं, यदि जीवित होते तो हम अवश्य ही उनसे पूछते ! पर इसमें उनका कसूर नहीं है : उन्हें तो संस्कार ही ऐसे मिले थे। आदमी संस्कारों का ही तो पुतला होता है। हम तो अपने महाकाव्यों के चरित्र नायकों को ईश्वरीय रूप देकर उनकी अव्यावहारिक काल्पनिक शस्त्र-विजयों के त्यौहार हर साल मनाते हैं। मानवीय व्यावहारिक धर्म-विजयों के त्यौहार शायद हमारे भाग्य में नहीं हैं।

वस्तुत. साम्राज्य के शस्त्र-बल की अपेक्षा साम्राज्य का धर्म-बल अधिक प्रभाव-क्षमता से सम्पन्न था इसलिए अशोक ने शस्त्र-बल के मुकाबले धर्म-बल का प्रयोग किया था। अशोक का धर्म-बल अपने-आप में इतना प्रबल था कि उसके भारत पर किसी बाह्य-शक्ति ने आक्रमण करने का साहस तक नहीं किया; और यदि किया भी होता तो अशोक का शस्त्र-बल अपना करिश्मा दिखाता। उसकी भुजाएँ कमजोर नहीं थीं। वे धर्मबल से पुष्ठ थीं। उसने अपना शस्त्र-भण्डार नष्ट नहीं किया था बल्कि धर्म-बल के आधार पर उसे सुरक्षित रखा था। किन्तु अशोक के बाद भारत के छोटे-बड़े वैदिक धर्मावलंबी राज्य अपने-अपने शस्त्र-बल के आधार पर आपस में ही लड़ते रहे और क्षीण बल होते रहे। फलत: देश की शक्ति बिखर कर नष्ट हो गयी। धर्म-बल को तोड़ा देश के तथाकथित धर्मान्ध लोगों ने, शस्त्र-बल को तोड़ा देश के विक्षोभ-व्यथित कर्मान्ध लोगों ने। न धर्म-बल रहा, न शस्त्र-बल। सत्यानाश हो गया। और ऐसी स्थिति में चन्द संगठित विदेशी लोगों को अवसर मिल गया और देश पराजित हो गया।

(3) **बौद्ध धर्मी अशोक और राष्ट्र पर संकट का प्रश्न**—दुर्भाग्य से सावरकर ने राष्ट्र पर आये संकट का कारण बौद्ध-धर्म को बताते हुए उसके लिए देवनां प्रिय सम्राट् अशोक महान् को कोसा है। इस सम्बन्ध में उनकी उक्त पुस्तक के पृष्ठ सं 67 पर उनके विचार विचारणीय हैं—"परन्तु अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार करते ही यह सम्पूर्ण सुरक्षितता अकस्मात् ही धराशायी हो गयी। भगवान् बुद्ध ने जिस प्रकार अपने सारे साम्राज्य का परित्याग कर भिक्षुत्व स्वीकार किया—उसी प्रकार यदि बौद्ध धर्म स्वीकार करते ही सम्राट् अशोक ने भी साम्राज्य का परित्याग कर दिया होता, स्वयं भिक्षु बन कर बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ वह पर्यटन करता तो भारतीय राष्ट्र पर इतने बड़े संकट का पहाड़ न टूटता।"

असल में सावरकर का यह क्रोध सम्राट् अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार किए जाने पर है। उसने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया था तो उसे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भिक्षु बन कर पर्यटन पर निकल जाना चाहिए था। यह ठीक है। परन्तु इस तरह वह कितने देशों और कितने लोगों तक पहुंच पाता ? क्या इस तरह वह साम्राज्य को छोड़ कर उसे धर्म-साम्राज्य का रूप दे पाता और उसका विस्तार दुनिया के आधे से अधिक देशों तक कर पाता ? वस्तुतः वह साम्राज्य के उपभोग के लिए नहीं, बल्कि उसके उपयोग के लिए सम्राट् बना रहा। और क्या सम्राट् होकर भी उसका जीवन भिक्षु जैसा त्यागमय नहीं था ? मिथिला-नरेश जनक जब त्याग के साथ राज्य-भोग के लिए राजा बना रह सकता था तो क्या अशोक त्याग के साथ साम्राज्य के विश्व-कल्याणकारी उपयोग के लिए सम्राट् नहीं बना रह सकता था ? क्या ऐसा करके उसने साम्राज्य पर संकट का पहाड़ तुड़वा दिया ? नहीं, यह सरासर मिथ्या धारणा है, झूठ है। उसके धर्म-साम्राज्य में तो राष्ट्र का जीवन सुख-शान्ति से परिपूर्ण था, अनुशासित था, संगठित था, सुरक्षित था। अशोक की महानता को इतनी क्षुद्रता से देखना अच्छा नहीं है। विश्व के इतिहास में इस देश के एक ही सम्राट् को इतना महान् होने का गौरव प्राप्त हुआ है और वह भी श्री सावरकर को नागवार लगता है। यह किस प्रकार के देश-प्रेम का परिचायक है ? समझ में नहीं आता।

(4) क्या देश की पराजय में बुद्ध की अहिंसा का हाथ था ? भारतीय वैदिक धर्मियों का, विशेषकर तथाकथित ब्राह्मणवादियों का, यह प्रायः शौक-सा हो गया है कि वे विदेशियों के हाथों भारत की पराजय का दोष बुद्ध तथा बुद्ध की अहिंसा पर मँढ़ते रहे हैं जबकि यह राष्ट्र बुद्ध तथा उसकी अहिंसा के कारण नहीं बल्कि वैदिक धर्मावलम्बियों के पारस्परिक हिंसात्मक युद्धों से छिन्न-भिन्न होता रहा। हमारी राष्ट्रीय शक्ति विभिन्न राजाओं-महाराजाओं के बीच विखण्डित होती रही और विदेशी आक्रान्ताओं ने इसका भरपूर लाभ उठाया। आइये इस सम्बन्ध में जरा इतिहास के पन्नों को टटोलें।

बुद्ध का परिनिर्वाण ई. पू. 543 वें वर्ष में हुआ था। उसके दो सदियों बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने मौर्य-साम्राज्य की स्थापना की। बताया जाता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं जैन-धर्मी था। किन्तु फिर भी यवनों को इस देश से बाहर खदेड़ने में उसका अहिंसा धर्म बाधक नहीं बना। वस्तुतः बाहिद्रथ, शैशुनाग, नन्द एवं मौर्य वंशों ने बौद्ध-काल में जिस विशाल मगध साम्राज्य की स्थापना की थी और उसे अक्षुण्ण रखा था उसकी शक्ति ईसा पूर्व दूसरी सदी से ही क्षीण हो गयी। इस ई. पू. दूसरी सदी में कट्टर वैदिक धर्मी शुंगवंशीय ब्राह्मण सेनापति अपने ही सम्राट् वृहद्रथ मौर्य को षड्यन्त्र से मारकर मगध का सम्राट् बन गया था। इसी शुंगवंश के शासन-काल में उत्तर-पश्चिमी भारत में यवन अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे और शक सिन्ध तथा इससे संलग्न पूर्वी-प्रदेश, जिसे बाद में राजपूताना कहा गया, को अपनी अधीनता में लेने का प्रयत्न कर रहे थे। इसके बाद तो पल्हवों तथा कुशाणों

ने शकों का अनुसरण करते हुए भारत में अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये। कुशाणों ने मध्य-प्रदेश तथा मगध तक को अपने आधिपत्य में ले लिया।

बाहर से आये ये शक, यवन, पल्लव तथा कुशाण लोग धीरे-धीरे भारत में शासक जाति के रूप में पूरी तरह बस गये। इन्हीं को ब्राह्मणों ने यज्ञ तथा हवन द्वारा शुद्ध कर क्षत्रित्व प्रदान कर दिया और एक नयी क्षत्रिय जाति का निर्माण कर दिया तथा उन्हें अपनी वैदिक वर्ण-व्यवस्था में शामिल कर लिया। इन नये क्षत्रियों ने भी बदले में समाज में ब्राह्मणों के जातिगत वर्चस्व को यथावत् बनाये रखने तथा उसे और भी दृढ़ता पूर्वक लागू करने में उनका सहयोग किया। वस्तुतः बाद के काल में ब्राह्मण-नव क्षत्रिय गठजोड़ खूब जमता रहा। मौर्य, लिच्छवी, शाक्य, कोलिय, मल्ल, वृज्जी बुलि आदि प्राचीन शासक जातियों की पूरी तरह से उपेक्षा कर दी गयी क्योंकि ये जातियाँ किसी-न-किसी रूप में बुद्ध तथा बौद्ध-धर्म से सम्बंधित रही थीं। और तो और उन्हें ब्राह्मण विरोधी मान बहिष्कृत-सा कर दिया गया तथा उन पर मनमाने अत्याचार तक किये जाते रहे। फलतः ये जातियाँ अपना स्वरूप तथा पहचान ही भुला बैठी।

जिस समय मुहम्मद बिन कासिम ने सन् 712 ई. में सिन्ध पर आक्रमण किया उस समय वहाँ ब्राह्मण धर्म का प्रभुत्व था। ऐसा होते हुए भी खलीफा के इस अल्प वयस्क सरदार ने देखते-देखते ही सिन्ध को पदाक्रान्त कर दिया। मुसलमानों का सिन्ध तथा पंजाब के कुछ हिस्सों पर आधिपत्य हो जाने के सौ वर्ष बाद शंकराचार्य का उदय हुआ। उसके अद्वैतवादी वेदान्त ने भारत में खूब धूम मचा दी। विशेष कर बौद्ध धर्म-दर्शन के विरुद्ध उनके वेदान्त को खड़ा किया गया। किन्तु उनके अद्वैतवाद की सामाजिक परिणति यह थी कि शूद्र वेदों का अध्ययन न करें। क्यों? क्या वे वेदों का अध्ययन कर लेते तो वेद भ्रष्ट हो जाते? वस्तुतः इस तरह के वैदिक धर्मी ब्राह्मण आचार्यों को यह भय था कि यदि शूद्रों ने वेदों का अध्ययन कर लिया तो वे अपने शोषण के विरुद्ध आवाज उठा देंगे और इससे तथाकथित ब्राह्मण जाति के वर्चस्व को खतरा पैदा हो जायेगा। ऐसा वेदों में क्या था जिन्हें शूद्र नहीं पढ़ सकते थे? इन तथाकथित भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक विद्वानों ने उस संकट के समय भी मुसलमान विजेता जाति से एकता का पाठ नहीं सीखा।

नये बने क्षत्रिय कट्टर वैदिक सनातनी रूप धारण कर गये थे। वे अहिंसा में कतई विश्वास नहीं करते थे। वे अधिकांशतः विलासिता पूर्ण जीवन बिताने के आदी थे। सुरा और सुन्दरी के पीछे वे हमेशा ही परस्पर युद्धरत रहते थे। जिस समय भारत पर मुसलमानों के लगातार आक्रमण हो रहे थे उस समय भी दिल्ली का अन्तिम शूर-वीर सम्राट् पृथ्वीराज चौहान कन्नोज के राजा जयचन्द से एकता बनाये नहीं रख सका और दुश्मनी कर बैठा। परिणामतः मुहम्मद गौरी के हाथों युद्ध में मारे जाकर उसने भारत में मुसलमानों के पूरी तरह जमने का रास्ता खोल दिया। यह पृथ्वीराज चौहान तो वैदिक हिन्दू धर्मी ही था, कोई बौद्ध

अथवा बुद्ध की अहिंसा में विश्वास करने वाला नहीं था। क्या मुगल बादशाहों को अपनी बहन-बेटियाँ ब्याहने वाले और उनका सेनापतित्व करने वाले तथा दूर-दराज के भारतीय प्रदेशों को जीत कर मुस्लिम साम्राज्य में मिलाने वाले वैदिक-ब्राह्मण धर्मी न होकर बौद्ध धर्मी थे ? फिर मराठों की पेशवाई तो ब्राह्मणों के हाथों में ही थी। उन्होंने अन्यों से तो युद्ध किये ही, घर में भी लड़े : एक बार दौलतराव शिन्दे ने पुणे शहर लूटा तो दूसरी बार यशवन्तराव होल्कर ने उसे लूटा। ये राष्ट्र-रक्षक सभी एक-के-बाद-एक अंग्रेजों की शरण में जाकर उनके गुलाम क्यों बन गये ? उन्हें तो चाहिए था कि वे देश से नहीं तो अपने आस-पास के भारतीय क्षेत्र से तो अंग्रेजों को बाहर खदेड़ते। क्या ये ब्राह्मण पेशवा भी बौद्ध थे और बुद्ध की अहिंसा को मानते थे? कितना गिनायें और क्या-क्या बतायें? भारत का बौद्धोत्तर सम्पूर्ण इतिहास इस प्रकार थी अदूरदर्शितापूर्ण तथा विवेकहीन घटनाओं से भरा पड़ा है।

एक छोटा-सा देश है जापान। वह बौद्ध धर्मी है। उसे बुद्ध तथा बुद्ध की अहिंसा ने कमजोर क्यों नहीं बनाया ? और तो और हमारा राष्ट्र ईसा की बारहवीं सदी में ही विदेशी मुसलमानों के हाथों परतन्त्र हो गया जबकि उस समय तक ब्राह्मण वैदिक सनातन धर्मियों ने भारत में बौद्ध धर्म को सब तरह से तहस-नहस कर दिया था। उस समय उसका नाम लेने वाला भी कोई नहीं बचा था। इससे तो अच्छा एक छोटा-सा दूसरा बौद्ध धर्मी देश श्रीलंका सन् 1814 तक भी परतन्त्र नहीं हुआ था और बौद्ध धर्मी बर्मा तो सन् 1886 में अंग्रेजों के अधीन हुआ था। यह तो रही बौद्ध देशों की बात। भारत के पड़ौसी अफगानिस्तान जैसे देश आज तक भी क्यों नहीं परतन्त्र हुए ? असल में वहाँ जातिगत एकता बनी रही। देश के सभी निवासी देश की रक्षा और स्वतंत्र अस्तित्व के लिए क्षत्रिय बन कर कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने को तैयार रहे।

भगवान् गौतम बुद्ध द्वारा अपने समय के वृज्जि गण के प्रति प्रकट किये गये विचार इस संदर्भ में उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है —"जब तक वृज्जि संगठित रहेंगे, अनुशासित रहेंगे, विशुद्धत: धर्मचारी रहेगे तब तक उन्हें कोई पराजित नहीं कर सकेगा।" क्या यह उपदेश राष्ट्र की रक्षा के लिए तब और अब भी सार्थक व उपादेय नहीं है ? क्या हम वास्तव में संगठित, अनुशासित और विशुद्धत: धर्मचारी रहे हैं ? पहले तो मुसलमानों की और फिर अंग्रेजों की अधीनता में सदियों तक गुलाम रहने के और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के देश के हालात तो इसका उत्तर 'नहीं' में ही देते हैं।

वस्तुत: तथाकथित वैदिक ब्राह्मण धर्मावलंबियों ने कभी भी दर्पण के सामने बैठ कर अपना मुँह देखने की कोशिश नहीं की। वे अपने दोषों को बुद्ध तथा बौद्ध धर्म पर थोप कर अपनी शेखी बघारने में लगे रहे। अपनी जुम्मेदारी से बचते रहे, शायद उनकी रणनीति यही रही है। श्री सावरकर भी इसी शृंखला की एक कड़ी थे। यही देश का दुर्भाग्य है। (क्रमश: अगले अंक में)

कश्मीर-शैव दर्शन एवं शिव-शक्ति

● पं. जगन्नाथ सिब्बू, मुंबई

(गतांक से आगे)

श्रीचक्र का नव चक्रात्मक विकास

1. विन्दु:—पहले ही कहा गया है कि श्रीचक्र में नौ चक्र हैं जिनका उद्‌भव वीज रूप में प्रकाश स्वरूप विन्दु से हुआ है, अत: यह बिन्दु चक्र शिव-शक्तिमय होने के कारण इन नौ चक्रों में विशिष्ठ स्थान रखता है; और इसी वैन्दव चक्र में त्रिजगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार कारिणी ज्योति स्वरुपा कामेश्वरांक निर्मला कामेश्वरी महात्रिपुर सुन्दरी विराजमान है।

2 त्रिकोण:— जिसके तेजोन्मय स्वरूप से सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है इसी प्रकाशमय मुख्य विन्दु से विमर्श स्वरूप और दो बिन्दु उत्पन्न होते हैं जो वास्तव में प्रकाश ही है। इन्हीं उपर्युक्त '.' तीन विन्दुओं से त्रिरेखात्मक योनिचक्र बनता है जो श्रीचक्र का मूलाधार है। शक्ति का रहस्य इसी त्रिकोणात्मक चक्र में है जिसमें विन्दु रूप शिव-शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रियात्मक शक्ति से सारे ब्रह्माण्ड का संचालन करते हैं जिसका साक्षात् सम्बन्ध कामेश्वरी, वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी से है। सत्व, रज, तम: प्रधान होने के कारण इन तीन का रंग श्वेत-पीत, लाल, हरा है। श्वेत-पीत कामेश्वरी का द्योतक है जो सत्व प्रधान है, लाल वज्रेश्वरी का द्योतक है जो रज: प्रधान है, हरित या श्याम भगमालिनी का द्योतक है जो तम: प्रधान है। इन तीन विन्दुओं में पहला बिन्दु अहं स्वरूप पराशक्ति की अक्षर मूर्त्ति है जिसमें अ से लेकर ह तक सारी वर्णमाला अनमोल है। दूसरा विन्दु प्रकाश स्वरूप साक्षात् शिव है तथा तीसरा विन्दु विमर्श स्वरूपिणी साक्षात् शक्ति है।

ये ही तीन विन्दु त्रिकोण रूप में परिणत होकर क्रमश: पूर्णाहन्ता परमशिव, तथा विश्व के परिचायक है। ये ही तीन बिन्दु प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, सूर्य, चन्द्र, अग्नि; इच्छा, ज्ञान, क्रिया; मन, बुद्धि, अहंकार—इन त्रिपुटी के सूचक हैं। मूलरूप में इनका वीज त्रिकोण है। इन तीनों की साम्यावस्था मिश्र बिन्दु में पाई जाती है जिसका वर्ण श्वेत-रक्त प्रकाश विमर्श स्वरूप शिवशक्ति है जो सारे उद्भव चक्र का मूल कारण है।

3. अष्टकोण:—त्रिकोण के तेज: प्रसार से अष्टकोण रूप में पश्यन्ती-मध्यमा शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है, जो सर्वशास्त्रमयी होकर वैखरी रूप में अष्टमातृका स्वरूपा होकर अष्टसिद्धि प्रदा है।

4. अन्तर्दशार:—इसी अष्टकोण के प्रतिविम्व से दो दशकोण चक्र उत्पन्न हुए। पहला दशकोण दश-महाविद्यात्मक होने के साथ जाठराग्निस्वरूप दस वह्नि कलाओं का भी संस्थान है जो दस प्रकार के रस पचाती है जिनको धर्म प्रदा वृत्ति

कलायें कहते हैं, वे हैं:—धूम्रार्चि, उष्मा, ज्वलिनी, ज्वालिनी, प्रस्फुलिंगनी, सुश्री, स्वरूपा, कपिला, हविवहां, कविवहा।

5. वहिर्दशार:—दूसरे वहिर्दशार में चित्त विमर्श स्वरूप प्राणि मात्र के जीवनाधार दस प्राण वायु हैं जिनके नाम ये हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, काम, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनुंजय, जो पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा पांच कर्मेन्द्रियों को चेतना देते हैं।

6. चतुर्दशार:—दो दशार चक्रों के प्रतिविम्ब से चतुर्दशार का प्रादुर्भाव हुआ है जिसमें चौदह भुवनों में व्याप्त मन, बुद्धि, चित्, अहंकार, चेतना, चैतन्य, उच्छ्वास, नि:प्रवास, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, परा, लय, शून्य तत्त्व सूक्ष्म रूप में व्याप्त हैं।

7. अष्टदल:—चतुर्दशार के प्रतिविम्व से अष्टदल का प्रादुर्भाव हुआ है जिसमें अव्यक्त तत्त्व, महत्तत्व, अहंकार तत्त्व, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का सूक्ष्म रूप में समावेश है।

8. अष्टदल के प्रतिबिम्ब से षोडशदल का प्रादुर्भाव हुआ है। यह चक्र का कामाकर्षिण्यादि मनोबृत्तियों का उद्भव स्थल है जो प्रत्येक जीव मात्र में स्थायी-भाव में पाई जाती है।

वृत्त त्रय—षोडशदल के प्रतिबिम्त्र से सूर्य, चन्द्र, अग्निमय त्रिवृत्तात्मक गोलाकार त्रिरेखायें जो महाशक्ति के साक्षात् नेत्र त्रय हैं, निवृत्त रूप में प्रादुभूत हुए हैं, जिनसे दिन. रात तथा दो संध्याओं के साथ सारा कालचक्र नियमित रूप में चलता रहता है जो पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी से सम्बन्धित है।

भूपुर:—उक्त का ज्ञान प्रकाश गुरु मंडलात्मक भूपुर रूप में प्रस्फुटित हुआ है जो श्रीचक्र का अभिन्न अंग बना है। इस चक्र में देवी-देवताओं आदि गुरुओं के अतिरिक्त मानव शरीरगत् तत्त्व ओज, रस, असुक, मांस, मेधा, अस्थि, वसा, स्नायु, मज्जा, शुक्र, रोम, जो जीव मात्र की शारीरिक बनावट में सहायक है, स्थित हैं।

श्रीचक्र में अक्षरों का क्रम:—

अन्य विभुतियों की भांति श्रीचक्र के नौ चकों में सारी वर्णमाला ओतप्रोत है जो त्रिकोण चक्र में पहले ही परा रूप में वर्णित है। इनका स्थान क्रम इस प्रकार है:—

बिन्दु ॐ

त्रिकोण—वाग्भव बीज ऐं, काम बीज क्लीं शक्ति बीज सौं—
अष्टार—मँ फुँ बँ भँ मँ शँ षँ सँ
अन्तर्दशार—तँ थँ दँ धँ नँ टँ ठँ डँ ढँ णँ
वहिर्दशार—चँ छँ जँ झँ ञँ कँ खँ गँ घँ ङँ
चतुर्दशार—अँ आँ इँ ईँ उँ ऊँ ऋँ ॠँ ऌँ ॡँ एँ ऐँ ओँ औँ
अष्टदल—अँ कँ चँ टँ तँ पँ यँ शँ

षोडशदल अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ:

वृत्तत्रय—प्रसाद वीज लँ क्षँ

भूपुर—परा प्रसाद वीज हँ क्षँ

इसी प्रकार सारी वर्गमाला श्रीचक्र के अन्तर्गत हैं जो सर्वशास्त्रमयी शक्ति की अक्षरमयी मूर्ति है।

मानव शरीर और श्रीचक्र :—

योगी मानव शरीर और श्रीचक्र में तादात्म्य मानकर त्रिविधात्मक शरीर और श्रीचक्र में अभेद मानते हैं। उनके विचार से सारा ब्रह्माण्ड ही श्रीचक्र में समाया हुआ है, अत: स्वत: ही मानव शरीर उसका अंश मानकर कुण्डलिनी जागरणात्मक सोऽहं का आभास पाते हैं। यह कुंडलिनी क्या है ? इस पर थोड़ा प्रकाश डालता हूं।

कुंडलिनी—कुंडलिनी की चर्चा तन्त्र शास्त्रों में स्थान-स्थान पर की गई है। यह वह शक्ति है जिसका सीधा सम्बन्ध चित् शक्ति स्वरूप परम शिव या पराशक्ति से है। कुंडलिनी शब्द की व्युत्पत्ति तंत्र शास्त्रों में इस प्रकार की गई है "कुण्डे शिवे ब्रह्माणि या लीना या शक्ति सा कुण्डलिनी" जो शक्ति परम शिव परब्रह्म में लीन है, जिससे वह शक्तिमान है, वह कुंडलिनी है।

इस कुंडलिनी शक्ति को तान्त्रिकों ने दो भागों में विभक्त किया है—परा, अपरा। यहां पराको अकुल कुंडलिनी और अपरा को कुल कुंडलिनी नाम से संबोधित किया है। अकुल कुंडलिनी परानन्दा स्वरूपा होकर भी विश्वोत्तीर्ण है परन्तु इसके विपरीत कुल कुंडलिनी साक्षात् विश्वमय है। तन्त्रोक्ति है—"कुल हि परम: शक्ति" क्योंकि कुल कुंडलिनी रूप में वह स्वयं पराशक्ति है जो अकुल शिव को शक्ति प्रदान करती है और अंगागिभाव में रहती है। इस कुलाकुल सम्बन्ध को तंत्रशास्त्रों में कौल रूप में अभिहित किया गया है। तन्त्रोक्ति है—

"कुल शक्ति रिति प्रोक्ता, अकुल: शिव उच्यते।
कुलाकुलस्य संबंध: कौलमित्यभिधीयते ॥"

कुल शक्ति स्वरूप है, अकुल शिव स्वरूप है जो कुलाकुल शिवशक्ति को एक मानते हैं वे कौल हैं इसीलिए तंत्र शास्त्रों में महाशक्ति को कौलिनी या कुल योगिनी कहा गया है। यही शिवशक्तिमयी कौलिनी शक्ति जगत् का स्फार करती है।

योगी जन इसी कुंडलिनी शक्ति को प्राणायाम द्वारा कुंभक, पूरेक, रेचक से प्राण वायु को आरोह-अवरोह प्रक्रियाओं से जगाकर मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर तत्त्व बोधात्मक सोऽहम् रूप ब्रह्म-साक्षात्कार पाते हैं। यही कुंडलिनी जागरणात्मक आत्मबोध है। यही मानव जीवन की महान् उपलब्धि है। इसीलिए तंत्रकारी ने कहा है—

पिण्ड ब्रह्माण्डयो ज्ञान नाल्यस्य तपस: फलम् ।।

ससीम को असीम से देखना, या पिण्ड-ब्रह्माण्ड का अभेद ज्ञान किसी महान् तपस्वी को ही हो सकता है, अन्य को नहीं ।

इस दृष्टि से वे मानवावयवों और श्रीचक्र के चक्रों को इस प्रकार मानते हैं ।

1. विन्दु—सहस्रार
2. त्रिकोण—मस्तक
3. अष्टकोण—ललाट
4. अन्तर्शर्दार—भ्रूमध्य
5. वहिर्दशार—कण्ठ
6. अ. वृत्त रेखा—हृदय
7. व. वृत्त रेखा—कुक्षि
8. चतुर्दशार—नाभि
9. अष्टदल—कटि
10. वृत्त रेखा—उरु युगल
11. षोड्शदल—स्वाधिष्ठान
12. वृत्तत्रय—कुंडलिनी त्रिवृत्त
13. भूपुर—मूलाधार
14 भूपुर 1 रेखा जानु युगल
भूपुर 2 रेखा जंघा युगल
भूपुर 3 रेखा पाद युगल

इस प्रकार योगी अपने देह की श्रीचक्रात्मक परिकलपना करके शिवशक्ति का तादात्म्य प्राप्त करते हैं ।

अन्त में हम स्वत: ही इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं नव द्वारात्मक मानव शरीर भी श्रीचक्रात्मक है । ऐसी तन्त्रोक्ति भी है—"स्वात्मेव देवता प्रोक्ता ललिता विश्व विग्रह:" चैतन्यमयी आत्मशक्ति ही साक्षात् पराशक्ति ललिता है जो विश्व रूपा है, चिद्भिकुंड संभूता त्रिमर्श रूपा है, संसारके अणु-अणु में व्याप्त है । अत: इसमें सारे देव, सूर्यादि गुरु, नक्षत्र, राशियां, दैत्य, दानव, राक्षस, सिद्ध, मुनि यक्ष, गन्धर्व, मानव, पशु, पक्षी, राष्ट्र, समुद्र, नदियां, पर्वत सूक्ष्म रूप में विद्यमान हैं । इसीलिए परब्रह्म स्वरूपिणी महाशक्ति को विश्वरूपा कहा गया है अर्थात् त्रिजगत् में जो कुछ भी जड़-चेतन भाव में मौजूद है वह सब सूक्ष्मभाव में पराशक्ति का ही स्वरूप है, जो श्रीचक्र रूप है।

क्योंकि श्रीचक्र को शिवशक्ति स्वरूप कहा गया है जो पिण्ड और ब्रह्माण्ड का अनोखा तादात्म्य है जिसे रहस्यात्मक होने के कारण कोई महाज्ञानी या महा तपस्वी ही जान सकता है, अन्य नहीं ।

(समाप्त)

राजस्थान : संस्कृति और पर्यटन

—डॉ. अभिनव कमल रैना, डी. ए. वी. कॉलेज, अजमेर

(गतांक से आगे)

भील (BHIL)

भील भारत की आदिवासी जातियों में से एक है। ये भारत के चार प्रमुख राज्यों में पाए जाते हैं—महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान। यदि समग्र रूप से देखा जाये तो चारों राज्य ही भीलों का घर है।

राजस्थान में दक्षिणांचल में प्रारम्भ से ही भीलों का बाहुल्य रहा है। इस क्षेत्र को भीलों का घर कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

राजस्थान में भीलों का फैलाव व्यापक है। ये प्रदेश के सभी जिलों में पाए जाते हैं। परन्तु इनका बाहुल्य राज्य के दक्षिणी जिलों—उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, चित्तौड़गढ़ एवं सिरोही में है। बांसवाडा एवं डूंगरपुर जिले की सभी तहसीलों में भीलों का बाहुल्य है। इसी प्रकार वे भीलवाड़ा जिले की मांडलगढ़ एवं चितौड़गढ़ जिले की भैंसरोड़गढ़ तहसील में भी निवास करते हैं।

भीलों की उत्पत्ति—भीलों की उत्पत्ति कैसे हुई ? इस बारे में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं। हैड़न इन्हें पूर्व द्रविडों की शाखा मानते हैं तो रिजले और कूक इन्हें द्रविड़, प्रो. गुहा इन्हें प्रोटो-ओस्ट्रेलायड प्रजाति से संबंधित मानते है।[1]

भील संस्कृत भाषा के 'भिल्ल' शब्द म्लेच्छ देश और जाति दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'मलेच्छ शब्द अश्वेत रंग के आर्येतरों के लिये शताब्दियों तक प्रयुक्त होता रहा। बाद में इसका चलन अवहेलना और तिरस्कार के रूप में हुआ।[2]

शाब्दिक अर्थ से 'भील' का अर्थ 'तीर' चलाने वाले व्यक्ति से लिया गया है। यह शब्द द्राविड़ भाषा से संबंधित हैं जिसकी उत्पति बिल (BIL) या विल (VIL) अर्थात् तीर से हुई है। विभिन्न विद्वानों के अतिरिक्त भील समुदाय में भी अपनी उत्पति के संबंध में रोचक किंवदंतियाँ प्रचलित है—'शिवजी ने अपने हाथ से जो प्रथम बीला (वृक्ष) पैदा किया, उसके पत्ते उनका एक भक्त पुजारी उन्हें चढ़ाने लगा। जब उस देवता की धाम चलने लगी तो वहाँ पर यात्री आने लगे और यह संख्या निरंतर धीरे-धीरे बढ़ती गई। तब पुजारी भी बीला नाम से जाना जाने लगा। यहां बीला होते-होते भील नाम से पुकारा जाने लगा। कालांतर में उसकी संतति भील नाम से जानी गई। इसी कारण भील शिव के उपासक हैं तथा इन्हें अपना देव मानते हैं।[3]

भीलों की उपजातियां—भील जनजाति की व्यापक परिधि में अनेक उपजातियां सम्मिलित है। भिलाला, बारेला, भात्रकर, निहाल, राठीया,

1,2,3 भारत के आदिमासी—पृष्ठ 56 तथा पृष्ठ 58

भीलों के अंतर्गत ही माने गये हैं। कुछ जातियां राजपूतों से जुड़ी होने के कारण अपने-आपको राजपूत कहने लगी हैं तथा भील कहने पर वे अपने-आपको अपमानित-सा महसूस करते हैं। भीलों की उपजातियां निम्न हैं—

भिलाला—यह भीलों की ही उपजाति है। भिलाला अपने आप को श्रेष्ठ व उच्च भीलों की ही श्रेणी का मानते हैं। ये अपने आपको ठाकुर, भूमिया, रावत पटेल तथा मुखिया कहलाना पसंद करते हैं। ये कुत्ते, बिल्ली व गिलहरी की शपथ खाते हैं। इन्हें ये पवित्र मानते हैं।

बारेला—ये भिलाला से अपेक्षाकृत कम प्रगतिशील होते हैं। ये भूत-प्रेतों में विश्वास करते हैं तथा बलि के लिये बकरे व मुर्गे को मार डालते हैं।

राठिया—यह भी भीलों की ही एक उपजाति है। राठ नामक भूभाग में रहने के कारण ये राठिया कहे जाने लगे। खरगौन (म. प्र.) में इनकी संख्या अधिक है।

भीलों का शारीरिक गठन—भील पुरुष मंझले कद के तथा गेहुंए रंग वाले होते हैं। इनके शरीर की बनावट मजबूत, नुकीली नाक व तग नथुने होते हैं। इससे इनका शरीर आकर्षक लगता है। बाल रूखे तथा जबड़ा कुछ आगे को निकला रहता है। ये सामान्यतया मूँछे रखते हैं।

भील स्त्रियों का नाक नक्शा काफी सुंदर होता है। शरीर गठा हुआ तथा चुस्त होता है। स्त्रियों का रंग गेंहूआ तथा आंखों का रंग कत्थई से गहरा कत्थई होता है। ये आकर्षक लगती हैं।

भोजन—भीलों द्वारा मक्का का प्रयोग वर्ष भर किया जाता है। आर्थिक तंगी के कारण भील घी व तेल का प्रयोग बहुत ही कम मात्रा में तथा त्यौहार पर ही करते हैं। सामान्यतया इनके भोजन में प्याज, लहसुन का मसाला तथा छाछ आदि का प्रयोग किया जाता है। भील मांसाहारी भी होते हैं। ये गेहूं, चावल तथा मांस का प्रयोग त्यौहार तथा जातीय भोज के अवसर पर करते हैं। इनमें शराब का प्रचलन भी है।

वस्त्र तथा आभूषण भीलों का पहनावा साधारण-सा होता है। ये रंगीन वस्त्रों के शौकीन होते हैं। इनके पहनावे में कुर्ता या अंगरखी तथा धोती प्रमुख हैं। पुरुष सर पर सफेद साफा पहनते हैं। गरीब भील सर पर कम लंबाई की पगड़ी बाँधते हैं। आजकल शिक्षित भीलों में पैंट-शर्ट का प्रचलन है।

भील स्त्रियां लुगड़ा (साड़ी), कांचली (चोलियां) घाघरा (पेटीकोट) पहनती हैं। कुछ महिलाओं में जकडी अंगरखी का भी प्रचलन है।

आभूषणों के मामले में स्त्री व पुरुष दोनों ही इनके शौकीन होते हैं। इनके आभूषण प्राय: चांदी, पीतल, गिलट, कांसा, और जस्ते से बने होते हैं। धनी भील

साने के आभूषण पहनते हैं। पुरुष कानों में तगोले, बाली, गले में ताबीज, बांहों पर बाजूबंद, गले में हांसली, अंगुलियों में अंगूठियाँ व कड़ा आदि पहनते हैं। स्त्रियाँ सर पर बोर, रखड़ी, मोली या लच्छे में गुँथी घुघरी व पारा, परचा, नाक में कांटा या नथ ,कानों में झुमके या गुट्टियां पहनती हैं। बाजुओं में बाजूबंद, चुडला, हाथ में चुडली, पैरां में कांसे व पीतल की पैजनियाँ, कड़े तथा हाथ की उंगलियों में अंगूठी पहनती है। स्त्री व पुरुष गोदना भी गुदवाने के शौकीन होते हैं।

विवाह पद्धति—भील जनजाति में विवाह को स्थाई संस्था का दर्जा प्राप्त नहीं है। यह अस्थाई होता है तथा इसे कभी भी तोड़ा जा सकता है। विवाह का मुख्य आधार वधू मूल्य होता है अर्थात् कोई स्त्री अपने पति के साथ ना रहकर किसी अन्य पुरुष के साथ रहना चाहती है तो दूसरे पुरुष को उसका वधू मूल्य उसके पूर्व पति को देना पड़ता है। प्राय: वयस्क होने पर ही विवाह किया जाता है। लड़का या लड़की चुनने की स्वतंत्रता पायी जाती है। किन्तु इसके उपरांत भी माता-पिता या अन्य संबंधियों के द्वारा संबंध तय किये जाते हैं।

भीलों में अधिमान्य विवाह का भी प्रचलन है। ये विवाह कई प्रकार के होते हैं जैसे—मोरबंदिया अथवा विधि पूर्वक विवाह, हरण विवाह, परवीक्षा विवाह, क्रय विवाह, सेवा विवाह, विनिमय विवाह आदि।

इनमें विधवा विवाह की भी प्रथा है। यदि विधवा को कोई परेशानी ना हो अथवा उसकी इच्छा हो तो उसका पुनर्विवाह करवा दिया जाता है। यह विवाह प्राय: देवर के साथ ही होता है।

मृत्यु संस्कार—भीलों में मृत्यु संस्कार हिन्दुओं के सदृश्य ही होते हैं। प्राय: मृतक का दाह संस्कार किया जाता है। किन्तु कबीर एवं भगत भीलों में शवों को गाड़ने की प्रथा पाई जाती है। मृतक का तेरह दिन तक शोक रखा जाता है। अंतिम मृत्यु भोज, जिसे 'काट्टा' कहते हैं, का आयोजन किया जाता है। यह आयोजन किसी भी महीने की शुक्ल पक्ष की पंचमी या सोमवार को किया जाता है। मृतक की अस्थियों का विसर्जन धार्मिक स्थल पर किया जाता है। इनमें किसी किसी मृतक का स्मारक भी बनाया जाता है।

बच्चों की मृत्यु होने पर उनके शवों को गाड़ा जाता है। साथ ही उनका 'काट्टा' भी तीसरे ही दिन कर दिया जाता है।

मृत्यु भोज का आयोजन प्राय: गांव के सारे भीलों द्वारा सामूहिक रूप में किया जाता है।

गरासिया (GARACIA)

राजस्थान में मीणा तथा भील जनजाति के बाद सर्वाधिक आदिवासी जनसंख्या की जाति 'गरासिया' तीसरे स्थान पर आती है। दक्षिणी राजस्थान में गरासिया जनजाति के लोगों का वर्चस्व है। इन्हे 'ग्रासिया भी कहा जाता है।

गरासिया जनजाति की उत्पत्ति—मीणा तथा भील के समान ही गरासियों की उत्पति के सम्बन्ध में भी इतिहासकार एक मत नहीं हैं । वैसे इन्हें चौंहान राजपूतों का वंशज माना गया है। इनका उल्लेख तेरहवीं शताब्दी में में मिलता है ।

मारवाड़ की सेशन्स बुक के अनुसार—'जब सन् 1368 में अलाउद्दीन खिलजी ने जालौर का किला अपने अधीनस्थ किया तब कई राजपूत छोटे-छोटे गिरोह बनाकर डकैत बन गये और इस प्रान्त के भीलों को खदेड़ कर स्वयं स्वामी बन गये । इन्हीं लोगों ने अपने सम्बन्ध भीलों से स्थापित किये जो आगे चलकर 'गिरासिया' कहलाये ।* 'गिरास' छोटे टुकड़ों को कहा जाता है ।

गुजरात राज्य में आज भी छोटे-छोटे भूस्वामियों को गिरासी-गिरासिया कहा जाता है ।

गिरासिया मूलत: अपनी उत्पत्ति राजपूतों से मानते हैं । चाहे इन्हें किसी भी नाम से पुकारा जाये। किन्तु अब भीलों की पुत्रियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित होने के कारण इनका रूझान राजपूत जाति से कम होने लगा है ।

भोजन - गरासिया शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों ही प्रकार के होते हैं । शाकाहारी अपना भोजन मक्का, ज्वार तथा गेहूं पसंद करते हैं। इन्हें राबड़ी का भी बेहद शौक है । छाछ का प्रयोग भोजन के साथ पेय पदार्थ के रूप में किया जाता है । ये लोग प्राय: पिसे हुए मसालों का प्रयोग नहीं करते हैं । आवश्यकता के समय नमक व साबुत मिर्च को खरल में पीस लिया जाता है। ये लोग मौसम अनुसार अपने क्षेत्र में उपलब्ध मौसमी फलों का प्रयोग भी करते हैं ।

इनमें शराब व अफीम का सेवन भी प्रचलित है । स्त्री व पुरुष दोनों ही शराब पीते हैं ।

विशेष अवसरों व पर्वों पर मीठे व्यंजन, लापसी, चूरमा तथा मालपुवे बनाये जाते हैं ।

विवाह पद्धति—गरासिया जनजाति में बहिर्गोत्र विवाह पद्धति का प्रचलन पाया जाता है । इनमें मुख्यत: विवाह के निम्न प्रकार पाये जाते हैं—

1. मोरबंधिया विवाह
2. गुप्त विवाह
3. सेवा विवाह
4. मेलवो विवाह
5. आटा-साटा विवाह
6. दीतवारिया विवाह
7. नाता विवाह

मोरबंधिया विवाह पूर्व नियोजित विधि विधान द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं । अन्त में विवाह सम्पन्न कराने वाले ब्राह्मण को दक्षिणा दी जाती है।

---

* भारत के आदिवासी—मेहता पृष्ठ सं. 146

दीतवारिया विवाह का आयोजन दिवस रविवार का होने के कारण इसे दींतवारिया विवाह कहा जाता है। यह विवाह बिना किसी दिखावे के सम्पन्न होता है। मेलवो विवाह आर्थिक रूप से कमजोर लोगों के लिए लाभप्रद रहता है। इसमें विवाह के खर्चों में कमी लाई जाती है तथा बारात नहीं लाई जाती है। दुल्हन को उसके घर वाले ही दुल्हे के घर छोड़ जाते हैं।

गरासिया में आटा-साटा विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता है। इनमें विधवा विवाह का प्रचलन भी पाया जाता है। यदि स्त्री अपने देवर से विवाह ना करना चाहे तो वह अपने पिता के घर जाकर रहती है तथा इच्छा अनुसार विवाह कर लेती है।

वन्दना गीत

—स्वामी रामगिरि

वन्दना के गीत गायें !
निशा का अन्तिम चरण है,
स्वप्न का अन्तिम वरण है,
भोर ने अंगड़ाई लेकर
नयन-पट निज टिमटिमाये ।।

अरुणिमा छाई गगन में,
स्फूर्ति नव छाई चमन में,
अरुण के नव आगमन पर
कुसुम-दल सब खिलखिलाये ।।

हर दिशा सानन्द जागी,
मांद पशुओं ने है त्यागी,
मधुर स्वर से विहग-दल ने
वन्दना के गीत गाये ।।

आज हम भी एक स्वर से
विश्व में जयकार भर दें,
सद्बुद्धि का संकल्प लेकर
भास्कर-से जगमगायें ।।

छोड़ दें दुष्कर्म सारे,
भावना सद्कर्म धारें,
सत्य के कर्त्तव्य-पथ पर,
हम सदा बढ़ते ही जायें ।।

★★

सीधे सम्वाद की जरूरत

★ धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल

तुम्हारे और मेरे बीच
सीधे सम्वाद की जरूरत है,
प्रतीकों के माध्यम से बोलना
अब अच्छा नहीं लगता।

तुम्हें बोलना है तो बोलो,
पर शब्दों का सहारा मत लो;
अर्थ की सम्वेदना हर बार खो जाती है,
आकाश में टकराने को
सिर्फ ध्वनि-तरंगें रह जाती हैं।

भ्रान्तियों के आवरण में
न तुम खुल पाते हो,
न मैं खुल पाता हूं;
तोड़ पर आई हर बात को
तुम भी टाल जाते हो,
मैं भी टाल जाता हूं।
और इस तरह बढ़ती ही चली जाती हैं दूरियाँ,
तुम और मैं एक दूसरे से मिल ही नहीं पाते।

जिस सामान्य धरातल पर तुम खड़े हो
उसी पर मैं भी खड़ा हूं;
यह मिट्टी की गन्ध,
यह हवा का स्पर्श,
यह दोपहर की धूप,
यह चाँदनी का रूप,
क्या मेरी-तुम्हारी अनुभूति के अंग नहीं हैं?

ये प्रतिमाएँ, ये बिम्ब, ये रूपक
मन को अन्दर तक झाँकने ही नहीं देते,
गहराइयों को आँकने ही नहीं देते;
आन्तरिक अभिव्यक्ति की तीव्रता में
भाषा एक व्यवधान बन जाती है।

●●

सन्देश

"किसी कारण से पूर्वकाल में पारस्परिक मतभेदों को लेकर जो भी साहित्य निर्माण हुआ जिसमें भगवान बुद्ध को विष्णु का अवतार बताकर जो कुछ लिखा गया, वह पड़ौसी बौद्ध देश के बंधुओं को अप्रिय लगा, इसे हम समझते हैं। इसलिए दोनों समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों को पुन: स्नेहपूर्वक बनाने के लिए हम निर्णय करते हैं कि भूतकाल में जो हुआ उसे भुलाकर अब हमें इस प्रकार की किसी भी मान्यता को बढ़ावा नहीं देना चाहिए।"

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयंकाजी और
—जगद्गुरु शंकराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वतीजी
की संयुक्त प्रेस विज्ञप्ति
दिनांक 12-11-99 का एक अनुच्छेद (विपश्यना पत्रिका
अंक 22, दिसम्बर, 1999 से साभार)

जरा सोचें

क्या हमारा देश पिछले दो हजार साल से अध्यात्मिकता के क्षेत्र में लगातार कमजोर नहीं हुआ है? यदि नहीं तो जन-जीवन में इतनी विसंगतियां क्यों हैं? नैतिक पतन क्यों है?

बुक-पोस्ट

सेवा में

....

....

....

मुद्रक, प्रकाशक, स्वामी बी.एस. सहवाल की ओर से अरावली प्रिंटिंग प्रेस झनकारी नगर, अजमेर में मुद्रित तथा 43/2117 सम्मादिट्ठि, धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर से प्रकाशित।

सम्पादक—बी. एस. सहवाल

पंजीयन सं. 71279/98 दूरभाष : (0145) 660739

मध्यमा प्रतिपदा

शोध, साहित्य एवं समाज-सुधार के क्षेत्र में
वैज्ञानिक सोच की पत्रिका

वर्ष : 3 अंक : 1 सितम्बर 2000

सम्पादक :
बी. एस. सहवाल

संयुक्त सम्पादक :
डॉ. अभिनव कमल रैना

शोध निदेशक :
डॉ. चमन लाल रैना

फाउण्डेशन ऑफ इण्डोलोजी एण्ड कल्चर, अजमेर के सौजन्य से प्रकाशित

इस अंक में-

पृष्ठ सं.

(क) सम्पादकीय

1. सम्पादक की कलम से 1

(ख) विचार एवं नवीन शोध

2. सही दृष्टि —श्री भरतसिंह उपाध्याय (धर्मदूत) 3

3. बौद्ध धर्म : आक्षेप एवं भ्रांतियाँ और उनका निवारण —धम्मप्रिय वी. एस. सहवाल 4

4. श्री अरविन्द का पूर्ण योग —डॉ. चमनलाल रैना 15

(ग) कला, संस्कृति एवं पर्यटन

5. भारत महान् —डॉ. मञ्जु अवस्थी 18

(घ) सृजन के क्षण

6. कविता —राजीव भारतीय 20

7. कई जन्म पहिले —धम्मप्रिय वी. एस. सहवाल 21

8. सपना ही तो हूं मैं —आकाश सूर्यवंशी 22

9. पुनर्जीवित फिर करें —स्वामी रामगिरि 22

(च) प्रकीर्ण

10. सम्पादक से मिलिए 23

11. पाठकों के पत्र 24

12. समाचार : Standing Ovation for Indian Guru 25

11. सन्देश अन्तिम आवरण पृष्ठ

12. जरा सोचें —"—

मध्यमा प्रतिपदा (द्विमासिक)

सहयोग राशि : 55.00 रु. वार्षिक, 300.00 रु. दस वर्षीय

मनीआर्डर अथवा चैक द्वारा, जो अजमेर स्थित किसी भी बैंक में भुगतान योग्य हो, भँवरसिंह सहवाल के नाम से सहयोग राशि 43/2117, सम्मादिठ्ठि धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर के पते पर भिजवायें।

विशेष :—इस पत्रिका में छपे लेखकों के विचारों से सम्पादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। अपने विचारों एवं तथ्यों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होगा।

सम्पादक की कलम से

अपराध, कानून, न्याय और शासन :

हत्या, हत्या का प्रयास और बलात्कार जैसे संगीन-से-संगीन अपराध इस देश में धड़ल्ले से चल रहे हैं और इस महान् देश की महान् जनता चुप है। क्यों? इस 'क्यों' का उत्तर हम पिछले पचास सालों से खोज रहे हैं।

प्राचीन वैचारिक गरिमा से सम्पन्न यह देश आचरण में कितना विपन्न हो गया है—यह हम सब के लिए सोचने की बात है। इस देश में कानून है पर बेअसर है; अपराधों की रोक थाम के लिए पुलिस है पर अकर्मण्य है, वह कभी हरकत में आती भी है तो अपराध घट जाने के बाद आती है; न्यायालय है पर शीघ्र न्याय देने में असमर्थ हैं, उनकी कार्य-प्रणाली में जिन्दगी का कोई स्पन्दन नहीं है; शासन है पर जिन लोगों के हाथों में उसकी बागडोर है उन्हें देश और देश की जनता की कोई चिन्ता नहीं है, वह तो डकैतों, गुण्डों, आतंकियों, तस्करों व मिलावटियों के सामने नत मस्तक है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का अनुभव बताता है कि देश में अशिक्षित मजबूर लोकतन्त्र में लोग अधिक उच्छृंखल हुए हैं, अधिक स्वार्थी हुए हैं, अधिक आचरण-भ्रष्ट हुए हैं, अधिक अनुत्तरदायी हुए हैं—और यह देश रुग्ण हुआ है, जर्जर हुआ है -भौतिक रूप से भी, आत्मिक-आध्यात्मिक रूप से भी।

मजबूरियों का आलम—

इस देश की बहुसंख्यक जनता तो गरीबी रेखा के नीचे की जिन्दगी ही जी रही है, उसे तो जैसे-तैसे पेट भरने के लिए जो कुछ मिल जाता है, उसी में वह संतुष्ट होकर बैठ जाती है। मध्यम वर्ग के अधिकांश लोग अपनी आजीविका कमाने और घर-गृहस्थी के लिए न्यूनतम आधुनिक सुख-सुविधाएं जुटाने में ही इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें देश की दशा व दिशा पर सोचने का समय नहीं मिलता। तथाकथित बुद्धिजीवियों को अपनी टेबुल-बहसों से ही फुर्सत नहीं है और युवा-शक्ति दिशा-हीन है, किंकर्तव्यविमूढ़ है। देश की समग्र चेतना को ही जैसे लकवा मार गया है। सर्वत्र मजबूरियों का आलम है। ऐसे में कुछ अवांछित होशियार लोग देश के शासन की पीठ पर और सिर पर सवार नहीं होंगे तो और क्या करेंगे?

सही उत्तरदायित्व - बोध : पराये देश का एक उदाहरण :

मैंने अभी थोड़े दिन पूर्व ही एक पड़ोसी बौद्ध देश की यात्रा की है। यदि मैंने उसे ठीक से देखा है और समझा है तो वहां कि पुलिस इतनी सतर्क है कि कोई अपराध होता ही नहीं; और यदि भूले-चूके मजबूरी में कोई हो भी जाता है तो वह उसकी नजरों से बच नहीं पाता। अपराधी पकड़ लिया जाता है और उसे

तुरन्त न्यायाधीश के सामने प्रस्तुत कर दिया जाता है। न्यायाधीश उसी समय उस अपराधी को जेल भिजवा देता है। उस देश में कुछ लोगों से मालूम हुआ कि वहां न्यायाधीश तो हैं, पर वकील अथवा अभिभाषक जैसी कोई चीज नहीं हैं। चूंकि मैं भी कभी किसी कोर्ट से सम्बन्धित रहा हूं, अत: यह बात मुझे अच्छी लगी। जब वहां का न्यायाधीश बिना किसी सहायता-सहयोग के अपराधिक मामले को तुरन्त निपटा सकता है तो किसी अभिभाषक या पब्लिक प्रोसीक्यूटर की जरूरत ही क्या है? वहाँ की पुलिस असली अपराधी को ही गिरफ्तार करती है, व्यर्थ शक या सन्देह में किसी निर्दोष व्यक्ति को पकड़ कर उससे मनमाना जुर्म नहीं उगलवाती। पर इसके लिए बड़ी सतर्कता, बड़ी तत्परता, बड़ी ईमानदारी एव उत्तरदायित्व-बोध की जरूरत होती है और ये गुण उस देश के धार्मिक संस्कारों में अनुस्यूत हैं। हमारे देश की पुलिस तो बहुधा निर्दोष को फँसाने में और अभि-भाषक दोषी को बचाने में ही अधिक कुशल हैं।

एक ही उपचार :—

असल में हम पिछले दो हजार सालों से समय की कसौटी पर खरे नहीं उतर पाये हैं और मुगालतों में जीने के आदी हो गये हैं। इस बीच इस देश में इतने दार्शनिक मत-भेद उत्पन्न हुए-वितण्डावाद पैदा हुए कि एकता की भावना ही खो गयी, इतने धार्मिक-पौराणिक साहित्य का सृजन हुआ कि वैज्ञानिक सोच की प्रक्रिया ही कुण्ठित हो गयी, इतने कर्मकाण्डी आडम्बर हुए कि कुशल कर्म-संस्कार ही विलुप्त हो गये, इतना स्वार्थ पनपा कि मनुष्य-मनुष्य के बीच सहज संवेदनशीलता के तार ही टूट गये, हम इतने आत्म-युक्त हो गये कि समाज के प्रति दायित्व-बोध से ही मुक्त होगये! और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से तो हमारी दृष्टि में फैलाव की जगह इतना संकुचन आ गया कि कुछ लोग तो समृद्धता के शिखर पर चढ़ गये और देश गरीबी के गह्वर में धँस गया। आज देश की प्रगति का मानदण्ड कुछ लोग ही बन गये, जनता उपेक्षित होकर अंधेरे में भटक गयी।

ऐसी स्थिति में गलित संस्कारों से मुक्त मानवीय वैज्ञानिक अनुशासन-संहिता को इस देश में कठोरता से लागू करना ही श्रेयष्कर है। आखिर जान लेवा फौड़ा है तो उसकी शल्य-चिकित्सा करनी ही पड़ेगी चाहे उसमें कितनी ही पीड़ा क्यों न हो; मात्र दर्द-निवारक गोलियों व इन्जेक्शनों से काम नहीं चलेगा। और अब तो इसके लिए वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न बुद्धिजीवियों तथा उत्साही युवा जनों को सार्थक कर्त्तव्य-परायणता के साथ आगे आना ही होगा अन्यथा बहुत देर हो चुकी होगी और यह देश भरभरा कर टूट पड़ा होगा—अन्दर से भी, बाहर से भी।

★

सही दृष्टि

—श्री भरतसिंह उपाध्याय

वैदिक ऋषि की किसी अज्ञात शक्ति से प्रार्थना-आकांक्षा	सम्बोधि प्राप्त करते समय गौतमबुद्ध की उपलब्धियां—
(1) असतो मा सद्गमये । (मुझे असत् से सत की ओर ले चलो ।)	अविज्जा विहता, विज्जा उपपन्ना । (असत् (अविद्या) नष्ट हुआ, सत (विद्या) उत्पन्न हुआ)
(2) तमसो मा ज्योतिर्गमय । (मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो ।)	तमो विहितो, आलोको उप्पन्नो । (अन्धकार नष्ट हुआ, प्रकाश उत्पन्न हुआ ।)
(3) मृत्योर्माऽमृतं गमय । (मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो।)	अपारुता····अमतस्य द्वारा । (अमृत के द्वार खोल दिये गये ।)

भगवान् बुद्ध ने अक्षरशः वही प्राप्त किया है जिसकी प्रार्थना वैदिक ऋषि ने की है । आकस्मिक होते हुए भी शब्दों एवं भावनाओं के क्रम तक में कितनी भारी समानता है । सम्पूर्ण औपनैषदिक साहित्य को छान डालने पर भी एक भी ऋषि का ऐसा उदाहरण न मिलेगा जिसने अपने अनुभव के आधार पर इतनी परिपूर्णता के साथ घोषित किया हो कि उसकी अविद्या नष्ट हो चुकी है, तम विदीर्ण हो चुका है और उसने अमृत को पा लिया है । कुछ ऋषियों ने अमृत-प्राप्ति की कुछ झांकी अवश्य दी है किन्तु वैदिक ऋषि की प्रार्थना के तीनों अवयवों की परिपूर्ण प्राप्ति का दावा किसी साहित्य में हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता । वैदिक युग के लिए वह एक प्रार्थना है, आकांक्षा है । उसकी प्राप्ति तथागत की बोधि के रूप में हुई है । भारतीय आध्यात्मिक विकास का यह एक ऐतिहासिक विकास है ।

इस प्रकार वैदिक और बौद्ध धर्म का सम्वंध वस्तुतः प्रार्थना और उसकी प्राप्ति (उपलब्धि) का सम्वंध है । वस्तुतः बुद्ध का अनुभव वैदिक ज्ञान की संगति है, उसका पूरक है, उसका निश्चयात्मक विकास है ।

कहा गया है कि बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद भगवान् बुद्ध को उपदेश करने की इच्छा नहीं हुई । इस पर ब्रह्मा को चिन्ता हुई । उन्होंने जाकर तथागत से प्रार्थना की—"हे शोकरहित ! शोक-मग्न, जन्म-जरा-मरण से पीड़ित जनता की ओर भी देखो । जगत् में विचरो । धर्म प्रचार करो ।" ब्रह्मा वैदिक युग के सर्वमान्य देवता हैं । ब्राह्मण-संस्कृति के वे प्रतीक हैं । ब्रह्मा का बुद्ध को उपदेश करने के लिए आमंत्रित करना वस्तुतः सम्पूर्ण वैदिक धर्म का बौद्ध धर्म को आमंत्रित करना है । ब्रह्मा की प्रार्थना सम्पूर्ण वैदिक धर्म की प्रार्थना है । वैदिक धर्म की श्रेष्ठतम साधना की माँग है कि बुद्ध जैसे महात्मा आविर्भूत हों और वे उपदेश करें ।

बुद्ध और धर्म को देखने की यही सही दृष्टि है ।

(धर्म-दूत, जनवरी 1992 से साभार)

बौद्ध धर्म : आक्षेप एवं भ्रान्तियां और उनका निवारण

—धम्मप्रिय बो. एस. सहवाल

(गतांक से आगे)

विकृतियों के कारण बौद्ध धर्म का पतन—दूसरी भ्रान्ति :

भारत के प्रतिष्ठित अभिवक्ताओं ने बौद्ध धर्म में आयी विकृतियों को भारत में उसके पतन का कारण बता कर एक दूसरे प्रकार की भ्रान्ति को जन्म दिया है। इस सम्बंध में हम उनके सामान्य सोच का एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते हैं। यथा—

"उसके (बौद्ध धर्म के) जो अवशेष बच रहे, वे अन्धविश्वास और कर्मकाण्डों से भरपूर थे—ये कर्मकाण्ड उनसे कहीं अधिक ज्यादा भद्दे थे जिन्हें दबाने का बौद्ध धर्म ने प्रयत्न किया था। यद्यपि वेदों की पशु-वलि को वह आंशिक रूप से खत्म करने में सफल हुआ, किन्तु उसने देश को मंदिरों, मूर्त्तियों, चिन्हों और सन्तों की हड्डियों से पाट दिया। सबसे बढ़कर यह कि आर्यों, मंगोलों और आदिवासियों की जो खिचड़ी उसने तैयार की, उसके जरिये अचेतन रूप से उसने कई किस्म के वीभत्स वामाचरों के लिए रास्ता तैयार किया।"

उक्त विचार खूब परवान चढ़े। पर यह जानने का कष्ट किसी ने नहीं किया— स्वामी विवेकानंद ने भी नहीं—कि आखिर बुद्ध जैसी महान् विशुद्ध वैज्ञानिक शिक्षाओं के होते हुए बौद्ध धर्म का रूप विकृत क्यों और कैसे हो गया। वस्तुत: विना कारण कोई कार्य पैदा नहीं होता है। और फिर बौद्ध धर्म का तो सारा ढ़ांचा ही कारण-कार्य-श्रृंखला अर्थात् 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धांत पर टिका है। अतः बौद्ध धर्म के बारे में इस प्रकार के पूर्वाग्रह पूर्ण आधे-अधूरे सोच को समग्र वैज्ञानिक सोच की संज्ञा नहीं दी जा सकती। आइये, पहले हम थोड़ा गहराई में पैठ कर बौद्ध धर्म में आयी तथाकथित विकृतियों के असली कारण की पहचान करें।

इतिहास का सच—यह भारतीय इतिहास का दिन के उजाले जैसा सच है कि बुद्ध के समय से ही ब्राह्मण समुदाय के सारिपुत्र, मोद्गल्यायन तथा महा काश्यप जैसे-प्रबुद्ध लोग बौद्ध धर्म में सम्मिलित होते रहे हैं। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद से तो बौद्ध धर्म में ऐसे ही प्रबुद्ध ब्राह्मण-भिक्षुओं का वर्चस्व रहा है। प्रारम्भ के पांच साल तक विशुद्ध रूप से बौद्धधर्म की पताका भारत में सर्वत्र फहराती रही। बौद्ध धर्म की इस सर्वव्यापी प्रतिष्ठा तथा सम्राटों द्वारा उसको मिले संरक्षण को देखकर पूर्व से ही कुढ़ा-चिढ़ा दकियानूश, रूढ़ ब्राह्मण

—भारतीय चिनत परम्परा -पृष्ठ 247

वर्ग और भी कुढ़ गया। फलस्वरूप वह इतना उत्तेजित हो गया कि हिंसा तक पर उतर आया। इस सम्बंध में ई. पू. दूसरी सदी के पुष्यमित्र शुंग द्वारा निरीह बौद्ध भिक्षुओं के संहार का उल्लेख हम पूर्व में ही कर चुके हैं। पुष्यमित्र के संरक्षण में वैदिक धर्म को बलपूर्वक फिर से प्रतिष्ठित किया गया और बौद्ध धर्म को कुण्ठित किया गया। किंतु यह स्थिति अधिक समय तक रह नहीं पायी और शुंग-काल के समाप्त होते ही अपने जनाधार के कारण बौद्ध धर्म पुनः उत्कर्ष की सीढ़ियां चढ़ने लगा एवं शीर्ष पर पहुंच गया।

बौद्ध धर्म के वर्चस्व को मिटाने का प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया का मार्ग जब काम नहीं आया तो रूढ़िवादियों ने अप्रत्यक्ष मार्ग अपनाया जो लम्बा तो था किंतु अधिक मारक था। यह अप्रत्यक्ष मार्ग था— भिक्षुओं के रूप में बौद्ध धर्म में घुस कर योजनावद्ध तरीके से वैदिक अन्ध-विश्वासों, कर्मकाण्डों तथा तत्समय प्रचलित मंत्राचारों एवं तन्त्राचारों का रूप बदल कर बौद्ध धर्म में उनका प्रचालन करना और बौद्ध धर्म की मूल शिक्षाओं तथा साधना-विधि को नष्ट करने की दृष्टि से उनके प्रतिकूल चीजों का उसमें प्रवेश कराना। हमारे विचार से बुद्ध द्वारा उद्घाटित मूल धर्म से अलग उदारता व विशालता के नाम पर एक नयी शाखा के महायान के रूप में उदय होने के पीछे यह भी एक प्रमुख कारण रहा होगा। धीरे-धीरे ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी तक आते-आते इस महायान में वामाचार, गुह्याचार जैसी वर्जित चीजों के साथ देवी-देवताओं की पूजा आदि को भी शामिल कर लिया गया जिनका जन्म मध्य कालीन वैदिक-पौराणिक धर्म में ही हो गया था। फलस्वरुप महायान कई प्रशाखाओं में वँट गया जिनमें अन्तिम दो प्रशाखाएं—वज्रयान तथा सहजयान प्रमुख थीं। उन दिनों प्रचलित पाशुपत, शैव तथा पौराणिक परम्पराओं के अनुकूल वज्रयान एवं सहजयान को मिलाकर बौद्ध तन्त्राचार के ताने-वाने बुने गये जिनमें साधना के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने, अविद्या को नष्ट करने और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए गुह्य-समाज तांत्रिक योगाचार, मंत्र, अभिचार, चिन्ह, यौनाचार, अन्धविश्वासों से पूरित विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ आदि अन्तर्गुंफित कर उन्हें बौद्ध तन्त्रवाद के नाम से प्रतिष्ठापित कर दिया गया। इस प्रक्रिया में सात-आठ सदी का समय लग गया। अब ये लोग बौद्ध भिक्षु नहीं बल्कि सिद्धियों से सम्पन्न चमत्कारी सहजयानी सिद्ध योगी कहलाने लगे। प्रयोजन सिद्ध हो जाने के वाद वे सब इसे छोड़ भागे और इनमें से अधिकांश ने नाथ-पंथ के नाम से अपना अलग ही झण्डा गाड़ लिया और शेष अपने पुराने समुदाय में पुनः आ मिले। अव तो नाम मात्र के बुद्ध, बुद्धत्व तथा अविद्या जैसे शब्द भी उनके शब्द कोष में से निकल गये और उनके स्थान पर ब्रह्म, ब्रह्मत्व और माया जैसे शब्द आरूढ़ हो गये।

दुतरफा घात का परिणाम—

यह बड़े आश्चर्य-मिश्रित दुःख का विषय है कि बुद्ध की महान् शिक्षाओं के एकदम विपरीत बौद्ध धर्म में ये छद्मवेशी तांत्रिक कर्मकाण्ड तथा वामाचार इतने बलवान हो गये कि बुद्ध और बौद्ध धर्म का नाम मात्र ही उनमें शेष रह गया और सब चीजें विलुप्त हो गयीं। जिस शील की आधार-शिला पर बौद्ध धर्म टिका था वही विखण्डित हो गया ! बुद्ध ने जिस "पाणातिपाणा वेरमणी" अर्थात् प्राणी-हिंसा से विरत रहने के प्रथम शील की शिक्षा दी थी, उसी के विरुद्ध पंच मकारी मत्स्य आदि भक्षण का जोर-शोर से प्रचार हो गया। बुद्ध ने जिस "कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी" अर्थात् वासना, काम-भोग, यौन-क्रिया आदि व्यभिचारों से दूर रहने का उपदेश दिया था, उसी के खिलाफ साधना में स्त्री तथा मैथुन का बोलबाला हो गया। बुद्ध ने जिस 'सुरा मेरय मज्झ पमादट्ठाणा वेरमणी' अर्थात् पक्की, कच्ची मदिरा एवं प्रमाद उत्पन्न करने वाली अन्य नशे-पते की चीजों की वर्जना की थी, उसी के प्रतिकूल मदिरा का प्रचलन हो गया ! बुद्ध ने जिन चमत्कारिक सिद्धियों के प्रदर्शन पर रोक लगायी थी, वे ही आम हो गयीं और तथाकथित बौद्ध भिक्षुओं का सिद्ध-योगियों के रूप में नया संस्करण हो गया ! बुद्ध ने जिस पूजा का निषेध किया था, उसी का चलन हो गया ! बुद्ध ने जिस वैज्ञानिक सम्यक् दृष्टि का प्रतिपादन किया था, वही अन्ध-विश्वास में बदल गयी ! बुद्ध ने जिन कर्मकाण्डों को अनावश्यक बताया था वे ही और भी भद्दे रूप में परिचालित हो गये। और यह सब स्वयं बुद्ध तथा उनके द्वारा उद्घाटित धर्म के नाम पर हुआ। इन्हीं बातों को लेकर उन पर भयंकर आक्रमण किये गये, उन्हें तथा उनके धर्म को बदनाम किया गया और जन-मानस में उनकी तथा उनके धर्म की प्रतिष्ठित छवि को धूमिल किया गया—भीतर से भी, बाहर से भी। यह बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के प्रति सुनियोजित दीर्घकालीन दुतरफा घात नहीं थी तो और क्या थी ?

बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के महान् प्रशंसक स्वामी विवेकानन्द की व्यापक दृष्टि से भी यह तथ्य ओझल हो गया कि अन्ध-विश्वास, तन्त्र एवं कर्मकाण्ड वैदिक धर्म के ही आवश्यक अंग थे, बौद्ध धर्म से उनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। वैदिक-पौराणिक (हिन्दू) धर्म ने बौद्ध धर्म की शील सम्बंधी बातों को नाम-भेद से अपना कर अपनी समायोजन-शक्ति का परिचय तो दिया परन्तु बुद्ध तथा बौद्ध धर्म को भुला दिया।

दृष्टिकोण की एकांगिता—

यह और भी मज़े की बात है कि जिन तंत्राचारों को बौद्ध धर्म के लिए घातक सिद्ध होना और अन्ततः भारत में उसके पतन का कारण होना बताया गया है, वे ही तंत्राचार वैदिक-पौराणिक धर्म के लिए संजीवनी हो गये और उसके उत्तरोत्तर उन्नयन का कारण बन गये। इस सम्बन्ध में श्री के. दामोदरन के

विचार दृष्टव्य हैं— 'इन (तान्त्रिक) क्रियाओं का स्पष्ट उद्देश्य ब्रह्म अथवा बुद्धत्व की प्राप्ति करना था, लौकिक सम्पन्नता को बढ़ावा अथवा दार्शनिक भौतिकवाद का विकास करना नहीं था। जहां तक बौद्ध-तन्त्रों की बात है एक धर्म के रूप में वे बौद्ध धर्म के पतन के ही द्योतक हैं।' लेकिन क्यों? जब इन तांत्रिक क्रियाओं का उद्देश्य ही इतना ऊँचा था तो वे बौद्ध धर्म के पतन की द्योतक क्यों बनीं? उस समय के वैदिक-पौराणिक (हिन्दू) धर्म के पतन की द्योतक क्यों नहीं बनीं? श्री दामोदरन के पास शायद इन प्रश्नों के उत्तर नहीं हैं। उन्हीं के पास क्या पूर्वाग्रह से ग्रसित किसी भी विद्वान् के पास इन प्रश्नों के उत्तर नहीं हैं।

वस्तुत: वामाचार आदि तांत्रिक क्रियाओं का अलौकिक उद्देश्य लोगों से निभ नहीं सका और अलौकिकता के नाम पर वे व्यवहार में लौकिक कामाचार आदि की ओर मुड़ गयीं। अत: यह बात नहीं है कि इनसे वैदिक - पौराणिक धर्म पतित नहीं हुआ; पतित हुआ और खूब पतित हुआ किन्तु पतित होने पर भी उसे सिर-आंखों पर बिठा लिया गया और जन-सामान्य में उसकी श्रेष्ठता के ढ़ोल पीट दिये गये। असल में रूढ़िग्रस्त वैदिक ब्राह्मणिक वर्ग इन तांत्रिक क्रियाओं से खिन्न नहीं था, खिन्न था तो बुद्ध और बुद्ध द्वारा उद्घाटित वैज्ञानिक धर्म से था जिससे समाज में उनका जातिगत् वर्चस्व ही खतरे में पड़ गया था।

सच तो यह है कि अनिष्ट-निवारण एवं काम्य-प्राप्ति के प्रारम्भिक वैदिक विश्वासों एवं तदनुकूल कर्म-काण्डों से धीरे-धीरे विकसित होकर इन तन्त्राचारों तथा इनकी जटिल क्रिया-प्रक्रियाओं ने इस देश को इस प्रकार अपने पाश में जकड़ लिया कि उनसे आज भी पिण्ड छुड़ाना मुश्किल है। औरों की तो बात छोड़िये, इस महान् देश के महान् प्रधान मन्त्री तक भी इस वैज्ञानिक युग में तान्त्रिकों के सामने नतमस्तक होते नज़र आते हैं।

प्रसंग में आयी अन्य बातें —

यह बात तो समझ में आती है कि बौद्ध धर्म वेदों की पशु-बलि को आंशिक रूप से खत्म करने में सफल हुआ, किंतु इसी सांस में कही गयी दूसरी बात समझ में नहीं आती कि उसने इस देश को मन्दिरों, मूर्तियों, चिन्हों और सन्तों की हड्डियों से कैसे पाट दिया। इस सम्बंध में सही बात तो यह है कि बुद्ध के मंदिरों तथा मूर्त्तियों की तुलना में प्रतिस्पर्धावश विष्णु तथा उसके अन्य अवतारों एवं अनेक देवि-देवताओं के मंदिर व मूर्त्तियां ही अधिक बने हैं। हां, बुद्ध की मूर्तियाँ थीं, मन्दिर भी थे परन्तु बौद्ध धर्म के प्रति दु:प्रचार कर उन्हें इस देश के रुढ़ वैदिक-वेदांतिक-पौराणिकों ने या तो तोड़-फोड़ दिया, अथवा फिर उन्हें हथिया कर उनका रूप ही बदल दिया,

1. भारतीय चिंतन परम्परा, पृष्ठ 247.

न हो तो उनमें वेवैसे ही पल्थी मार कर बैठ गये। बुद्ध की किसी मूर्ति को विष्णु की, किसी मूर्ति को जगन्नाथ की, किसी मूर्ति को बद्रीनाथ की मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर उनके पुजारी बन कर बैठने में तथा पूजा का व्यापार शुरू करने में उन्हें देर नहीं लगी। बोध-गया का प्रसिद्ध प्राचीन बौद्ध मन्दिर तो बड़ी मुश्किल से एक विदेशी महामना धर्मपाल अनागारिक के सतत अथक प्रयत्नों से बौद्धों के हाथों में पुन: आया है लेकिन उस पर अभी तक पौराणिकों की पचास प्रतिशत छाया पड़ी हुई है, बिल्कुल हटी नहीं है। रही-सही बौद्ध मूर्तियां व मन्दिर बाहर से आये आक्रमणकारी मुसलमानों ने नष्ट कर दिये। भारत वर्ष की यह अपार सांस्कृतिक सम्पदा बिना किसी समुचित देखरेख के भग्नावस्था में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। आज इस देश में कितने प्राचीन बौद्ध मन्दिर हैं, बुद्ध की कितनी प्राचीन मूर्त्तियां हैं, और कितने नये बौद्ध मन्दिरों का निर्माण किया गया है तथा बुद्ध की कितनी नयी मूर्तियां गयी गढ़ी हैं ? बस अंगुली पर गिनने लायक ही बौद्ध मन्दिर व बुद्ध की मूर्तियां होंगी जब कि इसके विपरीत इस देश में जिधर देखो उधर किसी भी गली-कूचे में कोई भी पौराणिक मन्दिर मिल जायेगा। कोई माई का लाल उनकी सही गणना करना चाहे भी तो नहीं कर पायेगा। उनसे पुराने मन्दिर सम्भलते नहीं हैं, नये बनते चले जा रहे हैं, उनमें आये दिन मूर्तियां स्थापित होती चली जा रही हैं। अत: यह तथ्य एकपक्षीय है कि बौद्ध धर्म ने देश को मन्दिरों व मूर्तियों से पाट दिया।

अब रही चिन्हों व संतों की हड्डियों से इस देश को पाट देने की बात। चिन्हों से उनका क्या मतलब है— पता नहीं। पर जहाँ तक संतों की हड्डियों का प्रश्न है-- इस संबंध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि बौद्ध धर्म में बौद्ध भिक्षु तो होते हैं, संत नहीं होते। संत भारतीय इतिहास में बहुत बाद में प्रादुर्भूत हुए। सोलहवीं सदी में ज्ञानेश्वर, कबीर आदि संतों की परम्परा शुरु हुई है। परंतु 'संत' शब्द से उनका तात्पर्य यदि बौद्ध भिक्षु से ही है तो हड्डियों से मतलब बौद्ध स्तूपों में काष्ठ या धातु मंजूषा में स्मृति-चिन्ह के रूप में सुरक्षित बौद्ध अरहंतों की अस्थियों से है। किंतु बुद्ध से लेकर आज तक बुद्ध को मिला कर कितने अरहंतों की अस्थियां इस प्रकार सुरक्षित रखी गयीं कि उनसे यह देश ही पट गया ? शायद यह अतिशयोक्ति है। उन्होंने यह नहीं बताया कि वैदिक-पौराणिक साधु-सन्तों एवं संन्यासियों के मरने के बाद उनकी हड्डियों का क्या किया जाता रहा है। क्या उनसे इस देश की नदियों तथा पोखरों के तल नहीं पाटे जाते रहे हैं और क्या उनसे उनका स्वच्छ जल दूषित नहीं होता रहा है ? लेकिन इन हड्डियों से लोगों को कोई लेना-देना नहीं, लेना-देना है तो सिर्फ कतिपय महान् बौद्ध-भिक्षुओं की स्तूपों में सुरक्षित रखी अस्थियों,जिन्हें उन्होंने चिन्ह भी कहाँ है, से है। फिर क्या बौद्ध भिक्षु-अरहन्तों की हड्डियों से इस देश को

पाट देने का मतलब वे इसे श्मशान बना दिये जाने से लेते हैं? असल में पिछली कुछ सदियों से तो विशुद्ध बौद्ध धर्म को इस देश में ही रहने नहीं दिया गया तो फिर इतने बौद्ध भिक्षु-अरहन्त कहां से पैदा हो गये और उनकी अस्थियों को स्मृति-चिन्ह के रूप में सुरक्षित रखने के लिए स्तूप कहां से बन गये ?

जहां तक वामाचार का प्रश्न है हम इस पर पहले ही खुल कर विचार कर चुके हैं। लेकिन आर्यों, मंगोलों तथा आदिवासियों को मिला कर खिचड़ी तैयार करने वाली बात किसी भी सुधी मस्तिष्क को कचोट जाने वाली है। क्या बौद्धों द्वारा इस देश की विभिन्न प्रजातियों के लोगों को एक धर्मसूत्र में बांधना उनकी खिचड़ी तैयार करना था ? धर्म कोई जाति नहीं देखता, कोई रंग नहीं देखता, कोई वर्ण नहीं देखता। फिर बौद्ध धर्म तो सार्वजनीन है। वह तो मनुष्य-मनुष्य को जोड़ता है तोड़ता नहीं।

अपनी ही जन्म भूमि पर से बौद्ध धर्म की विलुप्ति का दोष उसी के सिर पर मँढ़ कर दूर हो जाना कूट-नीति है, धर्म-नीति नहीं; स्वार्थ-नीति है, परमार्थ-नीति नहीं। फिर विलुप्ति और पतन का एक ही अर्थ नहीं है। विशुद्ध धर्म किन्हीं कारणों से कहीं से विलुप्त तो हो सकता है, पर पतित नहीं।

बुद्ध और बुद्ध की शिक्षा दुःखवादी है—एक भ्रान्त धारणा :

झूठ और उसका संक्रमण—यह दुर्भाग्य की बात है कि भारत में एक पढ़े-लिखे वर्ग द्वारा बुद्ध तथा बुद्ध की शिक्षाओं के बारे में एक-पर-एक झूठ बोल कर उन्हें कई-कई मुखों से कुतर्कों के साथ दुहराया जाता रहा है और अब तो लोगों को यह भी पता नहीं चलता कि वे झूठ बोल रहे हैं। बस यह झूठ उनके संस्कार में आ गयी है। इसका कुप्रभाव देश के जन-साधारण पर ही नहीं, बौद्ध धर्म से अनभिज्ञ अन्य देशों के कुछ विद्वानों पर भी पड़ा है।

बुद्ध ने जीवन और जगत् की सच्चाइयों को पहचाना और चार आर्य सत्यों का उद्घाटन किया—जिनमें से प्रथम दो दुःख तथा दुःख का कारण हैं। शेष दो आर्य सत्य दुःख-मुक्ति तथा दुःख-मुक्ति का उपाय हैं।

एक सच्चे वैद्य की तरह बुद्ध ने जीवन-जगत् के प्रथम आर्य सत्य दुःख की गवेषणा करते हुए बताया कि अविद्या कारण है संस्कारों का, संस्कार कारण हैं विज्ञान का, विज्ञान कारण है नाम-रूप (चित्त और शरीर) का, नाम-रूप कारण है षड़ायतन (छह ज्ञानेन्द्रियों) का, षड़ायतन कारण हैं स्पर्श का, स्पर्श कारण है वेदना (सम्वेदना, अनुभूति) का, वेदना कारण है तृष्णा का, तृष्णा कारण है उपादान (आसक्ति) का, उपादान कारण है भव का, भव कारण है जाति (जन्म)का, जाति कारण है जरा, रोग, मरण, शोक, परिदेव, दुःख-दौर्मनस्य, अप्रिय से मिलन, प्रिय से विछोह, अनचाहा घट जाना, मनचाहा घटित न होना,

मानसिक तनाव, दबाव, चिन्ताओं आदि का। वस्तुतः जन्म होगा तो ये सारे दुःख भी होंगे ही। दुःख का कारण दुःख ही है और यह जन्म भी दुःख ही है—'जाति पि दुक्खा'। अविद्या से जन्म तक, जन्म से मृत्यु तक दुःख - ही - दुःख है और सबसे बड़ा दुःख तो मरण है। इस प्रकार दुःख से दुःख उत्पन्न होता ही चला जाता है और यह कारण-कार्य की श्रृंखला टूटती ही नहीं, दुःख-चक्र— भव-चक्र चलता ही चला जाता है।

बुद्ध के द्वारा उद्घाटित आर्य सत्यों की गहरायी में न जाकर मात्र ऊपरी तौर पर ही उन्हें देखकर यह कह देना कि वे तथा उनकी शिक्षा दुःख वादी है—एक भ्रान्ति को-एक सफेद झूठ को प्रचारित करना है। यह तो उसी प्रकार की बात हुई कि शंकाराचार्य की जगन्मिथ्या वाली उद्घोषणा को देख कर कोई उन्हें मिथ्यावादी कह दे।

दुःख नहीं, दुःख-निरोध नेत्र, कर्ण, नासिका, जीभ तथा काया (बुद्ध ने त्वचा के स्थान पर काया का प्रयोग किया है, जो अधिक सार्थक है) के अपने विषयों के साथ संस्पर्श से उपलब्ध अनुभवों को विषय-सुख या काम-सुख कहा गया है। बुद्ध के समय प्रचलित आठ ध्यानों में क्रमशः इससे उच्च तथा उच्चतर सुख प्राप्त होते चले जाते हैं। प्रथम ध्यान में काम-सुख से उच्च एवं श्रेष्ठ वितर्क-विचारालम्वित प्रीति-सुख, द्वितीय ध्यान में अवितर्क-अविचार जन्य प्रीति-सुख, तृतीय ध्यान में उपेक्षा अर्थात् समता सुख, चौथे ध्यान में अदुःख-असुख अनुभूति की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार पाँचवें ध्यान में अनन्त आकाश की अनुभूति, छठे ध्यान में अनन्त विज्ञान की अनुभूति, सातवें ध्यान में अकिंचन की अनुभूति, एवं आठवें ध्यान में न संज्ञा न असंज्ञा की अनुभूति होती है। आश्चर्य की बात है कि बुद्ध द्वारा वर्णित विषय-सुख तथा आठों ध्यानों में प्राप्त सुखों में से लोगों को एक भी सुख दिखाई नहीं दिया, केवल दुःख ही दिखाई दिया। इन सब के आगे का परम सुख तो फिर उन्हें क्या दिखाई देगा ?

इन आठों ध्यानों में से प्रथम चार ध्यानों से प्राप्त सुखानुभूतियां रूप अर्थात् शरीर तथा उससे सम्बंधित पांचों ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र की सुखानुभूतियां हैं और उनसे आगे पांचवें से आठवें ध्यान तक में क्रमशः प्राप्त अनुभूतियां चित्त, जिसे छठी ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है, के क्षेत्र की सुखानुभूतियां हैं। परन्तु इन आठों ध्यान समापत्तियों से प्राप्त सुख 'परम सुख' नहीं है। परम सुख तो शरीर और चित्त से परे की लोकातीत, इन्द्रियातीत, नित्य व शाश्वत स्थिति है जिसे निर्वाण कहा गया है—'निब्बाणं परमं सुखं'। निर्वाण का यह परम सुख तब प्राप्त होता है जब पूर्व संचित सारे संस्कार उखड़ कर निःशेष हो जाते हैं और नये बन नहीं पाते-'खीणं पुराणं नव नत्थि सम्भवं' और चित्त तृष्णा तथा संस्कारों से एकदम विहीन हो जाता है —'विसंखारगतं चित्तं, तण्हा खय मज्झगा।' वस्तुतः संस्कारों के न रहने पर नया विज्ञान पैदा नहीं हो पाता ओर विज्ञान की

अनुपस्थिति में नाम-रूप (चित्त और शरीर) की मिली-जुली धारा और उसके बाद की कारण-कार्य श्रृंखला चल नहीं पाती। समग्र दुःख-चक्र की कड़ियां ही टूट जाती हैं तो दुःख कहां से रहेगा। अतः बुद्ध ने दुःख नहीं, दुःख-निरोध की शिक्षा दी है परम –सुख निर्वाण का मार्ग आख्यात किया है।

आनन्द और परम सुख में भिन्नता—यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि बुद्ध तथा उनसे पूर्व के काल में आध्यात्मिक अर्थ में 'सुख' या 'प्रीति-सुख' शब्द का प्रयोग होता था। बुद्ध के समय आनन्द शब्द का प्रयोग हास-विनोद, रसास्वादन, काम-भोग जैसे भौतिक अर्थों में ही हुआ करता था। यथा—

"नन्दति पुत्ते हि पुत्तिमा, गोमिको गोहि तथेव नन्दति।
उपधी हि नरस्स नन्दना, नहि सो नन्दति यो निरुपधि॥"

अर्थात् 'पुत्रों वाला पुत्रों से तथा गायों वाला गायों से आनंदित होता है। विषय-भोग ही मनुष्य के आनन्द हैं जो विषय-भोग से विरत हैं, वे आनन्दित नहीं।' वैदिक काल में भी आनन्द शब्द का प्रयोग ऐसे ही अर्थ में हुआ है जैसे—'आनन्दायस्त्रीषखू' अर्थात् 'काम-भोग के आनन्द के लिए स्त्री के साथ मित्रता करो।' परन्तु आगे चल कर पतंजलि तक आते-आते आनन्द शब्द का अर्थोत्कर्ष हो गया और सुख अथवा प्रीति-सुख का अर्थापकर्ष। पतंजलि, जो ई. पू. दूसरी शताब्दी में हुआ था, ने बुद्ध द्वारा व्याख्यात प्रथम ध्यान में वितर्क-विचार के साथ 'प्रीति-सुख' का प्रयोग न कर 'आनन्द' शब्द का प्रयोग किया। यथा—

"वितर्कविचारान्दास्मिता रूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।"

—योग सूत्र:1:17

और इसके बाद तो आनन्द शब्द का इतना उत्कर्ष हुआ कि वह ब्रह्म के सत्+चित्+आनन्द का रूप हो गया।

वस्तुतः बुद्ध की निर्वाणिक स्थिति में सारे दुःख तिरोहित हो जाते हैं—मात्र परम-सुख रह जाता है—कोई उसे आज की भाषा में 'परम आनन्द' कह सकता है। उनके शान्त-प्रशान्त तेजोन्मय मुख-मण्डल पर अपूर्व करुणा, अपूर्व मैत्री, अपूर्व समता, अपूर्व मुदिता क्या उनके दु;खवादी होने का प्रमाण हैं? पर जिन लोगों की आंखें चुंधिया गयी हैं, उन्हें कुछ भी साफ दिखाई नहीं देगा।

बुद्ध विष्णु के अवतार थे : एक विसंगति :

यह मानना कितना विसंगत अथ च असंगत है कि बुद्ध विष्णु के अवतार थे। क्या यह बात स्वयं बुद्ध तथा बौद्ध वाङ्मय के विरुद्ध नहीं है? समस्त पालि तथा संस्कृत बौद्ध ग्रंथों में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिससे यह संकेत मिलता हो कि बुद्ध विष्णु के अवतार थे। जातक कथाओं तक में, जिनमें बुद्ध के पिछले जन्मों का वर्णन है, इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर बुद्ध के सदियों बाद लिखे गये अग्नि महापुराण, मत्स्य महापुराण, पद्म पुराण, श्रीमद्भागवत

पुराण, भविष्य पुराण आदि के रचयिताओं ने बुद्ध को विष्णु का अवतार कैसे घोषित कर दिया यह एक विचारणीय प्रश्न है। पुराण-साहित्य में अवतारों की कोई कमी तो नहीं थी; फिर भी वेद-विरोधी समझे जाने वाले बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में याद किया जाना किसी-न-किसी मन: स्थिति का द्योतक तो है ही। आइये, इसे समझने की कोशिश करें।

कोई साम्य नहीं—पौराणिक ग्रंथों एवं उनसे सम्बंधित महाकाव्यों में विष्णु तथा उनके अन्य अवतारों को ऐश्वर्य सम्पन्न बताया गया है, वे सपत्नीक गृहस्थ के रूप में वर्णित हैं। धर्म की रक्षार्थ उनके द्वारा किये गये छल, पक्षपात एवं संहारों के अनेक प्रसंगों से पौराणिक ग्रंथ भरे पड़े हैं। वस्तुत: विष्णु तो अवतार ही दुष्टों के संहार हेतु लेते हैं। इसके विपरीत बुद्ध सभी राज्य-ऐश्वर्यों को त्याग कर संन्यासी हो गये थे। उनके हाथ में तो कभी संहारक सुदर्शन चक्र, धनुष अथवा परशु आदि नहीं रहा। उन्होंने तो अंगुलिमाल जैसे दुर्दान्त दुष्ट को भी अपनी करुणा व मैत्री से राक्षस से मनुष्य और मनुष्य से देवता बना दिया और वह भी एक क्षण में। अत: कहां विष्णु और उसके अन्य अवतार और कहां बुद्ध ? कोई तुलना ही नहीं है। वस्तुत: बुद्ध आदमी से भगवान् बनने का उदाहरण है; विष्णु को ठीक इसके विपरीत भगवान् से आदमी बनाया गया है। एक की गति ऊर्ध्वगामी है, दूसरे की अधोगामी। बुद्ध के समस्त जीवनाचरण में कोई छल नहीं, कोई पक्षपात नहीं, कोई हिंसा नहीं। विष्णु जैसे सर्वशक्ति-सम्पन्न ईश्वर को इस देश की धरती पर उतारकर उससे धर्म के नाम पर सामान्य मनुष्यों जैसा आचरण करवाया जायेगा तो धर्म की रक्षा कैसे होगी ? हां, धर्म के नाम पर अधर्म ही पनपेगा; सो तो हम सदियों से देखते ही आ रहे हैं।

पता नहीं कोई विष्णु राम, कृष्ण आदि के रूप में इस भारत-भूमि पर अवतरित हुआ था या नहीं और ऐसा होना भी सम्भव था या नहीं, पर इस देश के तथाकथित मनीषी तो कल्पना-कविताओं के आधार पर असम्भव को भी सम्भव बनाने में दक्ष रहे हैं और आज भी हैं। वे तो घर बैठे-बैठे ही या खटिया पर लेटे-लेटे ही बड़े-बड़े संग्राम जीत लेते हैं। कोई ईश्वर आदमी को बनाता होगा, यहां तो आदमी ही ईश्वर को बनाता है। यही इस देश के पौराणिकों की विचित्रता है जो विश्व में अन्यत्र देखने को नहीं मिलती।

बुद्ध के प्रभाव को कम करने की योजना—वस्तुत: पौराणिकों द्वारा बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित करना भारत के जन-मानस में बुद्ध के प्रभाव को कम करना था और उसका प्रवाह अपनी ओर मोड़ना था। आश्चर्य है कि बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित करने के बाद भारत में कश्मीर को छोड़ कर राम के तथा कृष्ण के तो अनेकानेक मन्दिर बने, अनेकों मूर्त्तियां भी गढ़ी गयीं, उन पर गीत, भजन आदि भी रचित हुए और भारत का समस्त वातावरण राम-

कृष्णमय कर दिया गया किन्तु उनके द्वारा बुद्ध का भी नया मंदिर निर्मित नहीं करवाया गया, बुद्ध की एक भी मूर्त्ति नहीं बनवायी गयी, बुद्ध का एक भी गीत या भजन नहीं गाया गया—यहां तक कि उसका नाम लेना भी पाप समझा गया !

पुराणों में बुद्ध का अपकर्ष—पुराणों में बुद्ध को अवतार के रूप में प्रस्तुत करने की परम्परा विष्णुपुराण से ही प्रारम्भ हो गयी लगती है। इस परम्परा के अनुसार बुद्ध विष्णु के शुद्ध रूप का—गुणों का अवतार नहीं, बल्कि उनके कल्मषी रूप माया-मोह का अवतार है जिसकी पुष्टि अग्नि महापुराण के निम्न श्लोक से होती है—

"मायामोहस्वरूपोसी, शुद्धोदनसुतोभवत् ।"

अर्थात् 'बुद्ध मायामोह रूप में आकर शुद्धोदन' के पुत्र हुए।' इसी प्रकार मत्स्य पुराण में उल्लेख आया है कि—

'कर्तु धर्म व्यवस्थानमसुराणां प्रणाशनम् ।
बुद्धो नवमको जज्ञे तपसा पुष्करेक्षणः ।
देव सुन्दर रूपेण द्वैपायनपुरः सरः '। 247 ॥

अर्थात् 'धर्म का व्यवस्थापन तथा असुरों के संहार के लिए नवां अवतार कमलनयन देवसुन्दर बुद्ध का जन्म हुआ।' पद्म महापुराण के अनुसार इससे सब दैत्य वेद मार्ग से बहिष्कृत हो जायेंगे—

"भवतासहितः सर्वान्वेदमार्ग बहिष्कृतान् ।'.

और श्रीमद्भागवतपुराण (गीता प्रेस, गोरखपुर), जो बुद्ध के काफी बाद लिखा गया है, के प्रथम खण्ड, प्रथम स्कन्ध्र अध्याय 3 में बुद्धावतार होने की घोषणा इन शब्दों में की गई—

"ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥" 24 ॥

अर्थात् 'उसके बाद कलियुग आ जाने पर कीकट प्रदेश (मगध देश) में देवताओं के द्वैषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन के पुत्र के रूप में आपका बुद्धावतार होगा।' इन तथा ऐसे ही अन्य उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध का अवतार विष्णु के मायामोह का अवतार था और वह भी इसलिए कि वेद-मार्ग पर चलने वाले तपोनिष्ठ राक्षसों को वह मोह-माया में फंसाकर उन्हें वेद के मार्ग से हटा दे, तपोभ्रष्ट कर दे। इससे पता चलता है कि वेदों के मार्ग पर चलने का एकाधिकार इन पौराणिकों ने अपने पास ही सुरक्षित रख लिया था। किसी दनुज के वेद-मार्ग पर चलकर मनुज या देवता बनने पर उन्हें घोर आपत्ति थी। यह वेद को संकुचित बनाने की तरकीब थी, उसे विस्तार देने की बात नहीं थी। और इसी कारण हम अपने ही देश में सिकुड़ कर रह गये; अन्य धर्म विश्व में विस्तार

पा गये और हमारे देश के लोगों को भी अपनी ओर खींच कर ले गये। इसके लिए उन्हें कोसने से क्या होगा ?

यहाँ तक तो गनीमत है। भविष्य पुराण तो इससे भी आगे वढ़ गया जिसमें बुद्ध को असुर तक कह दिया गया। इस पुराण के प्रतिसर्ग पर्व 4, अं 20 में आये श्लोक इस इस सम्बन्ध में देखने लायक हैं—

"वलिना प्रेषितो भूमो, मय: प्राप्तो महासुर:।
शाक्यसिंह गुरुर्गेयो, बहु माया प्रवर्तक:।।" 30।।

अर्थात् 'वलि ने भूमि पर एक माया प्रवर्तक महान् असुर को भेजा जो शाक्यसिंह के नाम से विख्यात हुआ।'

"स नाम्ना गौतमाचार्या, दैत्य पक्ष विवर्धक:।
सर्व तीर्थेषु तेनेव, यत्राणि स्थापितानि वै।।" 31।।

अर्थात् 'वह दैत्यों के पक्ष का वर्धन करने वाला था। उसने सभी तीर्थ-स्थानों में अपनी संस्था स्थापित कर ली।'

"तेषाम धोगता येतु, बौद्धाश्चा संसमन्तत:।
शिखा सूत्र विहीनाश्च, वभूवूर्वर्णसंकरा"।। 32।।

अर्थात् 'वे लोग जो उसके मतानुयायी बने, शिखा एवं जनेऊ से हीन अधोगति को प्राप्त कर वर्ण-संकर हो गये।' और इस प्रकार दस करोड़ आर्यो के बौद्ध मार्ग पर चले जाने का उल्लेख किया गया है—

"दश कोट्य स्मृता आर्या, वूभवुर्बौद्ध मार्गिण:।। 33।।

इसके अतिरिक्त तथाकथित 'कल्कि पुराणम्' के द्वितीयांश षष्ठोध्याय श्लोक सं. 41 से 44, सप्तोध्याय श्लोक सं. 3, 27, 31 व 50 तथा तृतीयांश प्रथमोध्याय में आये श्लोक सं. 43, 44 उदाहरण के रूप में उद्धृत करने योग्य भी नहीं हैं क्योंकि इनमें बुद्ध तथा उनके पिता शुद्धोदन को युद्ध भूमि में परास्त कर उनका वध तक कराया गया है। इन सब बातों से लगता है कि हमारा यह पौराणिक साहित्य अधिकांशत: कपोल-कल्पनाओं का भण्डार है। इन्हें इतिहास-ग्रंथ मानना तथा इनमें भारत का प्राचीन इतिहास खोजना कितना भयानक अथ च घातक है।

हमारी चिन्ता तो केवल यही है कि इन सब तथाकथित पौराणिक ग्रंथों को देखकर या सुनकर हमारे पड़ौसी बौद्ध देशों के मन पर क्या प्रतिक्रिया होती होगी! इनसे हमारी किस सहिष्णुता का परिचय उन्हें मिलता होगा। दरअसल वे हमसे इन तथा ऐसे ही अन्य ग्रंथों को लेकर नाराज हैं। अत: हमें चाहिए कि हम ऐसे ग्रंथों को या तो नष्ट कर दें अथवा फिर कम-से-कम उनके उन अंशों, अध्यायों आदि को विलोपित कर दें जिनसे बुद्ध तथा बौद्ध धर्म का अपकर्ष होता है। किसी के मकान की काँच की खिड़की पर पत्थर फैंकने से पहिले यह देख लेना बुद्धिमत्ता पूर्ण होगा कि हमारा मकान तो पूरा ही काँच का बना है। ऐसे ग्रंथों और ऐसी मान्यताओं को प्रश्रय देना इस देश के सम्पूर्ण स्वास्थ्य के लिए न तो अच्छा रहा है और न कभी अच्छा रहेगा।

(क्रमश: आगे के अंक में)

श्री अरविन्द का पूर्ण योग

✯ डॉ. चमनलाल रैना

"भगवान् के साथ सम्पर्क प्राप्त करने के लिए समाधि में रहना आवश्यक है"*— परन्तु पातञ्जल योग के अनुसार योग की चरम अवस्था समाधि है। पातञ्जलि और श्री अरविन्द दोनों भारत की पुनीत भूमि में पैदा हुए, भारतीय संस्कारों से ओत-प्रोत हुए तो भी इतना विरोधाभास क्यों ? श्री अरविन्द भी योगीराज हैं, पतंजलि योग सूत्रों के दृष्टा हैं। आर्ष मन से अन्तर्ज्ञान के द्वारा संसार के सुखों और दुःखों का अनुभव करने के उपरान्त उन्हें जो सच्चिदानन्द का अनुभव हुआ, वही योग सूत्र बन गये। पहला सूत्र 'अथ योगानुशासनम्' से ही प्रारम्भ होता है। अथ शब्द का अर्थ इस बात का प्रमाण है कि पतञ्जलि ने संसार के द्वन्द्वात्मक रूप का अनुभव कर, परमसत्ता से मिलने के लिए ही अथ शब्द का प्रयोग किया। समाधि में सहज समाधि का अपना ही स्वरूप कहा गया है जबकि शाक्त परम्परा के अनुसार समाधि की अवस्था निर्वाण की अवस्था होती है।

मानव प्रकृति के साथ मानसिक कठोर नियमों के अनुसार व्यवहार करना ही हठयोग कहलाया जाता है। शरीर नियन्त्रित हो, इन्द्रियों के वश में हो, अहम् की अनुभूति 'सत्त' से जुड़ी हुई हो यह अनिवार्य है...., उस महान् क्रान्ति के लिए जो योग द्वारा मनुष्य के अणु-अणु में केन्द्रित होती है। जब आन्तरिक इन्द्रियाँ या उनमें से कोई एक भी यथार्थ में स्पन्दित होती है, तो मनुष्य स्वतः अन्य लोकों से सम्बंध रखने वाली वस्तुओं को देखता या सुनता है। उसकी अन्तर्दशा क्या हो सकती है, यह मनुष्य की आंतरिक इन्द्रियों के विकास पर निर्भर करता है। जो भी 'शब्द' उस समय सुनने में आता है, वह इस बात का साक्षी बनता है कि क्या वह शब्द साधना से सम्बंधित संकेत है या वासना से सम्बंधित। सामान्य शब्द 'सत्त' अक्षर है, अमर है, उसी से शब्द अथवा मातृका विकसित हुई। अतः शब्द साक्षी भी है और प्रमाण भी। अक्षर पुरुष को योग द्वारा जाना जा सकता है। एक साहस की आवश्यकता है, वह है मन को एक शब्द पर केन्द्रित करने की। यह पद्धति सरल नहीं है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को 'अभ्यास' करने के लिए आदेश दिया। अभ्यास से भीतर की ऊर्जा स्पन्दित होकर प्राणशक्ति द्वारा अपना ही निरीक्षण कर स्वयं केन्द्रित होती है। कोई भी व्यक्ति किसी को शक्ति पात नहीं दे सकता है, परन्तु अभ्यास के द्वारा अपने में ही स्थित शक्ति का अनुसंधान करता है। श्री अरविन्द समझाते हैं—

'यह भी सभंव है कि कोई व्यक्ति अपनी प्राण शक्तियों को इतना अधिक दे डाले कि वह स्वयं कमजोर हो जाए या शक्ति को निःशेष कर दे। यह ऐसी बात है

* श्री अरविन्द के पत्र द्वितीय भाग पृ. 241

जो नहीं होनी चाहिए—वास्तव में विश्वास न रहने के कारण प्रेम की दीवारें हिलने लगती हैं। श्री अरविन्द फिर कहते हैं—

'जब तुम भगवान के पास आते हो, तो आंतरिक रूप से भगवान् की ओर झुक जाओ ओर अन्य चीजों से अपने को प्रभावित न होने दो। मुझे कृष्ण की पूजा वैष्णव मत की भक्ति के लिए जरा भी आपत्ति नहीं है और न वैष्णव भक्ति और मेरे अतिमानसिक योग में कोई विरोध है। सच पूछा जाए तो अतिमानसिक योग का कोई विशेष एवं एकान्तिक रूप नहीं हैं। सभी मार्ग अतिमानस की ओर ले जा सकते हैं, ठीक जैसे कि सभी मार्ग भगवान् तक पहुंचा सकते हैं।'

श्री अरविन्द वास्तव में पूर्ण योग के योगी हैं, वे शंकर के मायावाद से प्रभावित नहीं हुए हैं। काश्मीर का त्रिक् दर्शन ही उनके योग की पृष्ठभूमि रही थी। जहाँ तक मेरे शोध का सम्बन्ध है 1946 तक श्री अरविन्द के पास काश्मीर शैव दर्शन अथवा त्रिक दर्शन की कोई पृष्ठ भूमि ही नहीं रही थी, उस समय तक उन्होंने संसार को बहुत कुछ दिया था—यह उनकी आत्मानुभूति थी। योगी स्वतः जन्मते हैं, ऋषि बन के सिखाते हैं और अपनी लेखनी से अथवा वचनामृत से जनता जनार्दन के बीच योगी रूपी बीज का आरोपण करते हैं। जो शान्त, स्थिर और नियमित सुपथ का अनुसरण करने में दृढ़ बने रहते है, वे ही अपने में स्थित ब्रह्म का योग द्वारा साक्षात्कार कर सकते हैं। इस पूर्ण योग में दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है और अटूट प्रेम की जिसमें प्रकाश की विमर्श के साथ समरसता पाई जाती है। वास्तव में श्री अरविन्द के अनुसार यह भौतिक प्रकृति के अभ्यास का परिवर्तन है, इसके लिए एक लम्बे धैर्यपूर्ण कार्य की आवश्यकता होती है। वास्तव में देखा जाए तो पूर्ण योग में असम्भव नाम की कोई वस्तु नहीं है, और न ही कोई अपूर्व दिशा ही। इसमें केवल दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है जिसे इच्छा शक्ति भी कहते हैं। विजय और जय के बीच अपनी आत्म-सत्ता को ऊपर उठाकर असम्भव को सम्भव में परिवर्तित करना होता है।

पूर्ण योग में प्रेम जीवात्मा, परमात्मा एवं प्रकृति के साथ लगाया जाता है। यह साधारण प्राणिक भाव नहीं होता है। जिसे मानवी स्वरूप में प्रेम कहते है, वह वास्तव में वासना की संज्ञा होती है। आत्म समर्पण ही भगवान् के प्रति पूणतः युक्त प्रेम है, जो गोपियों का श्री कृष्ण के प्रति था। इस में ईर्ष्या या अभिमान अथवा क्रोध की कोई भी शर्त नहीं होती, इसमें बुद्ध-शुद्ध-विमल होने की दीक्षा है। अपने प्रेम को स्वार्थ से दूर रखना ही इस पूर्ण योग का पहला मूल मंत्र है, जिसे अपने भीतर लाना होगा।

यह भी देखते में आया है कि भगवान् के प्रति प्रेम में भी सामान्य मानवी तत्व वर्तमान में रहते हैं। व्यक्ति की मांग होती है। यदि वह अभीप्सा पूर्ण नहीं होती है तो वे अनुभवों के आधार पर साक्षात्कार कराने में सहायक सिद्ध होते हैं—जैसे

यदि कभी भौतिक रूप से थकान अनुभव होने पर भी यह अनिवार्य नहीं कि वह शिथिलता साधना में बाधा डाल सके। आंतरिक योग सतत चलता रहता है।

अत: जब मनुष्य प्रकाश देखता है तो अन्तर्दर्शन होते हैं। प्रकाश अपने अन्दर ही दिखता है, शब्द की एक मात्रा ऊं गूंजती रहती है, तो अनुभव साक्षात्कार में परिवर्तित होता है।

श्री अरविन्द के पत्रों के आधार पर निम्न प्रतीक एवं अन्तर्दर्शन दिये जाते हैं—

1. सूर्य का अर्थ है आंतरिक सत्य।
2. सूर्य सत्य के घनीभूत प्रकाश का प्रतीक है।
3. सूर्य ऊपर से आने वाला सत्य है, अन्ततोगत्वा वह अतिमानस सत्य है।
4. चन्द्रमा आध्यात्मिकता और आध्यात्मिक आनन्द का द्योतक है।
5. सुनहरे प्रकाश का अर्थ है—उच्चतर सत्य का प्रकाश।
6. तारे का अर्थ होता है सर्जन या निर्माण करने का आश्वासन या सामर्थ्यं।
7. अग्नि शक्तिशाली क्रिया को सूचित करती है।
8. बैंगनी ज्योति भागवत करुणा की ज्योति है।
9. श्वेत ज्योति भागवत चेतना की ज्योति है जिसमें अन्य सभी ज्योतियां निहित है।
10. धूम्रवर्ण प्रांण शक्ति का रंग है।
11. रक्त वर्ण भौतिक चेतना का रंग है।
12. नीला रंग उच्चतर मन का प्रतीक है।
13. धवल प्रकाश दिव्य चेतना को सूचित करता है।
14. सफेद प्रकाश शोधन की शक्ति का निर्देश करता है।
15. नारंगी रंग मुख्य ज्ञान अथवा मुख्य अनुभूति का रंग है।
16. हरा रंग कर्म और क्रिया की प्राणिक ऊर्जा है।
17. उषा का अर्थ नित्य उद्‌घाटन का प्रतीक है अर्थात् एक ऐसी वस्तु का आगमन जो यहां इस समय पूरी तरह विद्यमान नहीं है।

श्री अरविन्द प्रकृति के अणु-अणु को मनुष्य की चेतना से मिलाकर सम्पूर्णता की ओर लेते हैं। अत: उनका मूल सूत्र हैं—योग साधना के लिए अनुभव प्राप्त करना, परन्तु अनुभवों से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग न करना, अपने किसी विशेष प्रकार के अनुभव के साथ आसक्त न करना, सत्य को सर्वांग रूप से अपने में अवतरित करना।

(संदर्भ ग्रन्थ : श्री अरविन्द के पत्र द्वितीय भाग पर आधारित)

भारत महान्

—डॉ. मंजु अवस्थी
प्रिंसीपल, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बालाघाट (म. प्र.)

धर्म, संस्कृति, शिक्षा और सभ्यता का केन्द्र है यह भारत। विश्व में सबसे पहिले सभ्यता का विकास यहीं हुआ, विश्व-शांति का सन्देश यहीं से प्रसारित हुआ, धर्म-निरपेक्षता का बिगुल यहीं से बजा। यह देश महान् है। इस देश की परम्पराएँ महान् हैं। इस देश की कोटिश: जनता महान् है।

इस देश में चार प्रमुख धर्म प्रचलित है- हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, खालसा धर्म और ईसाई धर्म। जाहिर है सबके मध्य एक मूक समझौता भी होगा ही। इसलिए यह एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है। यहाँ अपनी बात कहने की स्वतन्त्रता है। यहां के प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारों के प्रदर्शन की स्वतन्त्रता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने तरीके से जीने की स्वतन्त्रता है। यहां के प्रत्येक धार्मिक का लक्ष्य परम सत्ता को प्राप्त करना है, जो सम्पूर्ण विश्व को संचालित करती है। मानवता का कल्याण और परहित जीवन धारण करने का आदर्श इस देश का संकल्प है। आइए, आज हम देखें कि इस महान् राष्ट्र की महान् परम्पराओं के निर्वाहक क्या कर रहे हैं, कहां थे और कहां जा रहे हैं? :—

इस देश में हिन्दू रहते हैं, जिनके वैदिक ग्रंथों की महान् परम्परा है, जिनमें यह लिखा है सब लोग सुखी हों, सब लोग निरोग हों'। यहां बौद्ध रहते हैं जिसमें "चरथ भिक्खवे चारुकं बहुजन सुखाय बहुजन हिताय लोकानुकम्पाय" की बात कह कर करुणा और परोपकार का शंखनाद किया गया है। यहाँ जैन रहते हैं, जो "करतल भिक्षा तरुतल वास" के आदर्श की परिकल्पना के मध्य जी रहे हैं। यहां शैवों, शाक्तों, वैष्णवों, साधू-संन्यासियों की एक दीर्घ परम्परा है, जो तप-त्याग की भावना के साथ यह मानते हैं कि—

साई इतना दीजिए, जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय॥

और इसी विचारणा के साथ परमतुष्टि की बात भी कहते हैं कि—

"गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धन खानि।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान॥"

इस देश के राष्ट्र नायक महात्मा गाँधी ने कहा है "बुरा मत देखो, बुरा मत सुनो, बुरा मत कहो" यह आत्मिक उत्थान की अवधारणा है "बुरा जो देखन मैं चला, मुझसे बुरा न कोय" की बात कह कर हिन्दुओं की महान् परम्परा को रेखांकित किया गया है, इसलिए कहा गया है कि यहाँ की जनता महान् है।

यह एक विशाल धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है, इसलिए यहाँ इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने लगभग आठ सौ साल तक शासन कर इसे अपना मूल स्थान मान लिया। इनका मूल मंत्र है "जब प्रकृति किसी प्रकार का मतभेद न कर सबको जीने का समान अधिकार देती है, समान पवन, समान जल, समान धूप और समान छाया देती है तो मनुष्य को विभेद करने की आवश्यकता ही क्या—अर्थात् इस धरती पर सबको जीने का समान अधिकार है" यह समभाव, यह सद्भाव और सहयोग की भावना ही यहाँ इस्लाम की एकजूटता का प्रमाण है। सब खुदा के बन्दे हैं और उसी के मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

यह देश खालसा धर्म की जन्म-भूमि है, जिसका एक मात्र उद्देश्य है, "धर्म की रक्षा और मानवता की रक्षा के लिए आत्म-सर्मपण कर देना।" मानवता का पाठ पढ़ाने वाला यह धर्म छः बातों पर अवलंबित है—

1. करिए क्या—पूजा
2. पीजिए क्या—क्रोध
3. खाइये क्या—गम
4. त्यागिए क्या—भ्रम
5. कमाइये क्या—धर्म
6. बोलिए क्या—मीठा

इन छः मानवीय चिन्तन की धाराओं को स्वीकारने व हिन्दू धर्म की भुजाएँ कहे जाने वाले इस पंथ के पथिकों के लिए क्या कहा जा सकता है क्योंकि ये पंथ तथा मानवता के हितार्थ ही सर्मपित है।

इस देश में महान् ईसा मसीह के अनुयायी रहते हैं जो गरीब, परमुखापेक्षी, दीन-हीन जनता को अपने आगोश में लेकर सुखी बनाने के प्रयास में सदैव तत्पर रहते हैं। करुणा की अजस्र धारा, प्रेम का अद्भुत साम्राज्य स्थापित कर वात्सल्य, परोपकार और निर्भय निवास की आश्वस्ति देने वाले ये लोग धर्म के लिए धर्म-परिवर्तन का शंख नाद करते हुए मानवता के विकास की परिकल्पना में लीन हैं।

अब इस देश की महान् परंपराओं को उसके नामकरण के माध्यम से देखें— इस देश का नाम भारत है। जहां भा अर्थात् ज्ञान की प्रभा, रत अर्थात् ज्ञान के विकास में निरन्तर रत रह कर उसकी महान् प्रभा से मंडित इस देश के निवासी हैं। यहाँ के मंदिरों में देवताओं का वास है तो मस्जिदों में खुदा का; गुरुद्वारों में धर्म-गुरुओं की अमृत वाणी है तो गिरजाघरों में आत्मशुद्धि की असीम परिकल्पना का प्रावधान; और बौद्ध मठ छुआ-छूत, जाति-पांति के भेद विहीन अपार सामंजस्य के केन्द्र हैं।

यहां की महान् शिक्षाएं, जिनके प्रभाव से विश्व आतंकित है—सत्यं ब्रूयात् मा ब्रूयात् असत्यं-अप्रियम्, अहिंसा परमोधर्मः, अप्प दीपो भव, क्रोध पाप का मूल

है, परोपकार सम तप नहीं, विद्या ददाति विनयं, मानवता धर्म पर विश्वास, धर्म पर आस्था, जन कल्याण, विश्ववंधुत्व और वसुधैव कुटुम्वकम् की भावना वाली हैं जो प्रतिपल प्रत्येक पग पर सबको निर्देशित कर रही हैं इसलिये यह देश महान् है।

सभ्यता और वैज्ञानिक विकास में सर्वप्रथम अग्रसर होने वाला यह देश आज अपनी महान् प्राचीन परंपराओं के स्थान पर क्षुद्र नई परंपराओं को क्यों जन्म दे रहा है? तप, त्याग, निष्कलंक चरित्र, प्रेम, सौहार्द्र, उदात्तता, ममता, सद्भाव, सहयोग, परोपकार और परकल्याण के स्थान पर हिंसा, द्वेष, असहयोग, कदाचार, कलमषाचार, भ्रष्टाचार, पापाचार, मिथ्या भाषण, वेईमानी, कालाबाजारी, देशद्रोह, ठगी, फरेब, नारी का अपमान, मानव की प्रताड़ना को प्रश्रय क्यों दे रहा है? जहां गुरुकुलों की स्वस्थ्य परंपरा रही हो वहां अशिक्षा, कुशिक्षा के साथ गुरुओं की अवमानना कैसे हो रही है? प्रेम-सौहार्द्र के प्रतीक, आस्था और विश्वास के प्रतीक परिवार विघटन, अविश्वास, अनास्था, द्वेष और कलह के केन्द्र क्यों वन रहे हैं? अलगाव और देश-द्रोह क्यों युवा पीढ़ी को सुनियोजित तरीके के आकर्षित कर रही है। रातों-रात अमीर बनने के स्वप्न और पश्चिमीकरण का लोभ क्यों जनता को दिग्भ्रमित कर रहा है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर आज हर भारतवासी को आत्ममंथन के लिए प्रेरित कर रहे हैं। अपनी गौरवमयी परंपराओं पर गर्व करना है तो क्या आज एक बार पुनर्मूल्यांकन का, आत्म-मंथन का, आत्म-चिंतन का समय नहीं आ गया है? और यह आवाज आज उस सामान्य जनता के बीच से उठ रही है जो न अमीर है न गरीब, न हिंदू है न मुसलमान, न सिक्ख है, न ईसाई, जो केवल भारतवासी है, इस महान् परंपराओं के देश भारत की वासी है। ●

कविता

— राजीव भारतीय

आर्य नगर, अजमेर-305001 (राज.)

काश ! मेरे पास
एक सुनहला सपना होता
तो मैं उसे/चमकते सितारे की तरह
तुम्हारे माथे पर अटका देता
लेकिन/तुम तो/ खुद ही हो एक सपना
वह भी मेरा अपना
आओ मेरे सपने
मैं तुम्हें/उज्ज्वल नक्षत्र की भांति
परमपिता के भाल पर/टाँक दूँ।

कई जन्म पहिले-

● धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल

इस गगन के तले
इस मही पर कहीं,
ऐसा लगता है हम-तुम मिले थे ज़रूर
एक पल के लिए, सच, कई जन्म पहिले।

रात थी, था अंधेरा घना चारों ओर
बादलों से ढ़ँका सारा आकाश था;
कुन्द मौसम था, वन के न हिलते थे पात
दूर तक भी न आहट का आभास था।

एक मन्दिर में दीपक की
दो बात-से
ऐसा लगना है हम-तुम जले थे ज़रूर
एक पल के लिए, सच, कई जन्म पहिले।

एक था रास्ता दुनियादारी से दूर
मन्द बहती हवाओं का रुख साथ था;
एक मासूम सपना था आंखों में मौन
प्यार था मन में बस, हाथ में हाथ था।

कि मंजिल का भरोसा लिए
दो कदम
ऐसा लगता है हम-तुम चले थे ज़रूर
एक पल के लिए, सच, कई जन्म पहिले।

एक ऋतु थी सुहानी, सुखद ठण्डी छांव,
गीत के छन्द भावों के अनुकूल थे;
एक बगिया के सूने-से कोने में दूर
एक टहनी पर शरमाये दो फूल थे।

एक माली की आँखें
चुरा कर कहीं,
ऐसा लगता है हम-तुम खिले थे ज़रूर
एक पल के लिए, सच, कई जन्म पहिले।

★

सपना ही तो हूं मैं

— आकाश सूर्यवंशी

सपना ही तो हूं मैं
देखना····एक दिन टूटकर बिखर जाऊँगा,
आंसू ही तो हूं, मैं
देखना एक दिन ढ़लक जाऊँगा,
मकान ही तो हूं मैं
देखना एक दिन रेत के ढ़ेर में बदल जाऊँगा,
आवारा बादल ही तो हूं मैं
देखना····एक दिन बरस जाऊँगा,
मुसाफिर ही तो हूं मैं
देखना ·· एक दिन थक कर ठहर जाऊँगा,
इन्सान ही तो हूं मैं,
देखना····एक दिन मर कर दफ़न हो जाऊँगा ।

★

पुनर्जीवित फिर करें

—स्वामी रामगिरि

विषमता-विद्वेष की स्याही से
आज रंग दिया है किसने इस भारत महान् को,
कर दिया है कलुषित पुनीत माँ भारती के
स्नहेमय निर्मल-धवल परिधान को ?
ऋषि-मुनि-सन्तों की पावन धरा से
प्राण जीवन-मूल्यों के
हर लिये हैं आकर किसी यमदूत ने ।
आओ सभी मिल पुरुषार्थ करें,
जन जीवन में
प्रेमकी सरस धारा बहा दें ।
कण-कण में तन-मन में भर दें फिर चेतना,
निष्प्राण भारत को
पुनर्जीवित फिर करें—फिर करें ।

★

Standing ovation for Indian guru

—By Suman Guha Mozumder

United Nations : An Indian religous leader was given a standing ovation repeatedly at the Millennium World Peace Summit of Religions and Spiritual leaders at the UN General Assmbly when he strongly supported 'conversion', but not of the religious kind.

'I am all for conversion, but not from one organised religion to another, but conversion from bondage to liberation, from misery to happiness and from cruelty to compassion,' S. N. Goenka, a Buddhist meditation master, said in his brief address. 'That is the conversion needed and that is what the UN should ensure,' he added.

In an address tinged with emotion, Goenka told a session on the 'Role of Religion in Conflict Transformation' that individuals cannot be ignored when one thinks of peace in society. 'I do not know how one can give peace to the world when one does not have any peace in one's mind.'

He said what mattered was peace of mind whether one calls himself a Hindu, Muslim, Christian or whatever. 'It really does matter as long as one has peace,' he said, 'when one has inner tranquility. the atmosphere becomes charged with peace. This is the conversion that is needed now.'

He also quoted words from an inscription of one of ancient India's emperors, Asoka, that said while one should honour one's religion, one should not condemn another's.

On Tuesday, Indians chaired two of the three sessions. While Member of Parliament Karan Singh chaired the opening session, Indu Jain of the Times of India Group of Publications chaired the third session.

Besids Goenks the other Indian leaders who addressed the second day of the summit, included L. M. Singhvi, a Jain scholar, Pramukh Swami Maharaj, the head of the Bochanwasi Shree Akshar Purushottam (BAPS) sect, Mata Amritanandamayi Devi, a spiritual leader based in south India, Ela Gandhi, granddaughter of Mahatma Gandhi, V R Gauri Shankar from the Sringeri Math and Joginder Singh from the Akal Takht, the spirial and temporal seat of India's Sikh community, in Amritsar.

—The Times of India 31.8:2000

सम्पादक से मिलिए/Meet the Editor

(श्री बी. एस. सहवाल, सम्पादक 'मध्यमा प्रतिपदा' से डा. चमनलाल रैना की बातचीत)

डॉ. रैना :—सहवाल जी, आपका जन्म कब-कहां हुआ तथा आपका नाम भँवरसिंह ही क्यों रखा गया ? क्या आप अपना संक्षिप्त जीवन-परिचय देने का कष्ट करेंगे ?

सम्पादक—जी हाँ; क्यों नहीं। मेरा जन्म दो फरवरी उन्नीस सौ सैंतीस को अजमेर में हुआ। मेरे दादा श्री गुमानदास गिरि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण 'गरीबगिरि' के नाम से प्रसिद्ध थे। उन्होंने मेरा जन्म होने पर मुझे भँवर से सम्बोधित किया था। तभी से मेरा नाम भँवर पड़ गया। परम्परा के अनुसार बाद में भँवर के साथ सिंह भी जोड़ दिया गया। ब्राह्मण पंडित द्वारा किये गये नामकरण पर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। राजस्थान में भँवर पौत्र को कहते हैं। वैसे राजस्थानी संस्कृति में इस नाम में एक अलग ही रस है। सन् 1979 तक रिफ्रेसर ट्रेनिंग सेन्टर तथा अन्य शिक्षण संस्थानों में व्याख्याता एवं शिक्षा अधिकारी के रूप में कार्य किया। इसके बाद राजस्थान प्रशासनिक सेवा में सम्मिलित हुआ और सन् 1979 से लगातार विभिन्न प्रशासनिक पदों एवं राजस्व न्यायालयों में मजिस्ट्रेट एवं पीठासीन अधिकारी के रूप में कार्य करता रहा और अन्त में राजस्थान सचिवालय जयपुर से सेवानिवृत्त हो गया। सम्प्रति मसि जीवी।

डॉ. रैना—आपकी विशेष रुचि क्या है ?

सम्पादक—मध्यमा-प्रतिपदा के सम्पादन से ही मेरी रुचि का पता चल जायेगा। वैसे मेरा झुकाव प्रारम्भ से ही साहित्य, भारत के प्राचीन इतिहास व उसकी संस्कृति, धर्म की वैज्ञानिकता एवं समाज पर उसके प्रभाव के अध्ययन की ओर रहा है।

डॉ रैना—लेखन के क्षेत्र में आपकी अब तक की उपलब्धियाँ ?

सम्पादक—अब तक मेरी पाँच पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। मेरी प्रथम कविता-पुस्तिका "यन्त्रणा अभी शेष है" का प्रकाशन 1992 में हुआ। इसमें मेरे विभिन्न प्रशासनिक जीवनानुभवों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। इसके बाद "घूमती पगडंडियाँ", "पाँखुड़ी-पाँखुड़ी मन", "मैं तो सिर्फ आकाश हूं" और "वितस्ता के आंचल में" - काव्य पुस्तिकाओं के अतिरिक्त 'भारतीय चिन्तन की श्रमण परम्परा,' 'बौद्ध धर्म के विकास में ब्राह्मणों का योगदान', 'भारतीय आश्रम व्यवस्था: एक पुनर्विचार', 'भारतीय संस्कृति में पूजा का महत्व' आदि अनेक शोध-लेख, प्रकाशित हो चुके हैं। गत दो वर्षों से मध्यमा-प्रतिपदा का सम्पादन-प्रकाशन भी चल रहा है।

डॉ. रैना—आपके लेख व कविता आदि कश्मीरी पंडितों के दिल्ली से प्रकाशित होने वाले 'कुशुर समाचार' तथा 'गोपी नाथ पत्रिका', 'उन्मेश' में भी छपे हैं ? इन कश्मीरी पत्रिकाओं में लिखने की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली ?

सम्पादक—कश्मीर से मुझे ही नहीं, भारत के प्रत्येक नागरिक को प्रेम है—उसकी प्रकृति, संस्कृति से लगाव है, वह हमारा शांत स्वर्ग है। अतः वहां हिंसक घटनाएं शुरू हुई तो मन को चोट लगी। यही चोट मेरी लेखनी के लिए प्रेरणा बन गयी और लिख गया, बस। कश्मीरी पण्डितों ने इसके लिए अपनी उदारता का परिचय दिया और मुझे विश्व भर के 28 लेखकों में सम्मिलित करते हुए रजत चिन्ह से युक्त सम्मान-पत्र से गौरवान्वित किया।

पाठकों के पत्र

आदरणीय धर्मप्रिय सहवाल जी,

मुझे आपके लेखों में नव उन्मेश की जागरूकता दृष्टिगोचर होती है जिसकी इस समय बड़ी आवश्यकता है। आगे बढ़िये। इस अभियान के लिये हार्दिक अभिनन्दन।

सर्वेभवन्तु सुखिनः

भवदीय

जगन्नाथ

R-9, RH-II, Sector-6

वाशी, नवी मुम्बई-400703

(**विशेष**—आदरणीय पंडित जगन्नाथ सिबू जम्मू-कश्मीर में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष रहे हैं और वर्तमान् में शारदा लिपि के एकमात्र जानकार विद्वान् हैं। 'कश्मीर शाक्त विमर्श' आपका अन्यतम ग्रंथ है। हम उनके इस पत्र को आशीर्वाद के रूप में लेते हैं।)

—★—

प्रिय बन्धुवर सहवाल जी,

"मध्यमा प्रतिपदा" नाम ही आनन्द की अनुभूति है, सद्भाव का सन्देश है। आपकी कलम का जादू लोगों के सिर चढ़ कर बोलने लगा है।

भारतीय पत्र-पत्रिकाओं की तेज दौड़ में मध्यमा-प्रतिपदा को भी स्पष्ट देख रहा हूं। तरोताजा बिहँसती, आनन्दमय जैसे उसे उसकी मनचाही प्रतिस्पर्धा मिल गई हो। निश्चित् ही आपका-प्रशासनिक अनुभव और बहुजन हिताय-सुखाय की सरस भावना मानव-कल्याण की दौड़ में अपने झण्डे गाड़ेगी।

ओंकारसिंह कुम्पावत C/o ममता कुम्पावत AAO, LIC

Near Rly. Station जोधपुर

(**विशेष**—आदरणीय कुम्पावतजी बुजुर्ग कवि-लेखक हैं। आपके पत्र से हमारा उत्साह बढ़ा है। धन्यवाद)

सन्देश

"चाहे हम उसे वेदान्त कहें या और किसी नाम से पुकारें परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म और विचार में अद्वैत ही अन्तिम शब्द है और केवल इसी दृष्टिकोण से सब धर्मों और सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है।"

—स्वामी विवेकानन्द

(विवेकानन्द संचयन पृष्ठ 531)

जरा सोचें

धर्म और संस्कृति के नाम पर कुछ रूढ़ अन्ध-मान्यताओं ने हमें आगे बढ़ने से रोक दिया है। अतः क्या यह श्रेयष्कर नहीं होगा कि हम उन्हें तोड़ कर फैंक दें और धर्म की सार्वजनीन, सार्वकालीन, सार्वभौमिक वैज्ञानिकता को अपनायें ?

बुक-पोस्ट

सेवा में

प्रिंसीपल, Principal

संस्कृत [illegible] कॉलेज

गंज अजमेर।

Ajmer

मुद्रक, प्रकाशक, स्वामी बी.एस. सहवाल की ओर से अरावली प्रिंटिंग प्रेस झलकारी नगर, अजमेर में मुद्रित तथा 43/2117 सम्मादिट्ठि, धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर से प्रकाशित।

सम्पादक—बी. एस.सहवाल

"Heard Melodies are sweet
But those unheard are sweeter"

भवतु सब्ब मंगलम्

पंजीयन सं. 71279/98

प्रिन्टेड मैटर

मध्यमा प्रतिपदा

शोध, साहित्य, संस्कृति एवं समाज-सुधार के क्षेत्र में
वैज्ञानिक सोच की पत्रिका

वर्ष : 7 अंक : 40 मार्च-अप्रैल, 2005

सम्पादक :
बी. एस. सहवाल

संयुक्त सम्पादक : (अवैतनिक)
(कला एवं पर्यटन)
डॉ. अभिनव कमल रैना

फाउण्डेशन ऑफ इण्डोलोजी एण्ड कल्चर, अजमेर के सौजन्य से प्रकाशित

इस अंक में-

(क) **सम्पादकीय :** पृष्ठ सं

(1) सम्पादक की कलम से 1

(ख) **विचार एवं नवीन शोध :**

(2) स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में बुद्ध तथा बौद्ध धर्म 3
—धर्मप्रिय वी. एस. सहवाल

(3) धर्म-ग्रंथों में धर्म 16
—विशाल भारद्वाज

(4) बौद्ध विवाह-संस्कार: परिशिष्ट 18
—मञ्जुश्री, पोर्ट ब्लेअर

(ग) **सृजन के क्षण :**

(5) Who Am I ? (Poem)
—Prof O. S. Atri 24

(6) अच्छा नहीं लगता (कविता) तृतीय आवरण पृष्ठ
—धर्मप्रिय वी. एस. सहवाल

(7) बुद्ध प्रश्न (कविता)—डॉ. सुरेन्द्र भटनागर अन्तिम कवर पृष्ठ

मध्यमा-प्रतिपदा (द्विमासिक)

सहयोग राशि : 55/- रु. वार्षिक 300/- रु. दस वार्षिक

मनीआर्डर अथवा चैक द्वारा, जो अजमेर स्थित किसी भी बैंक में भुगतान योग्य हो, भँवर सिंह सहवाल के नाम से सहयोग राशि सम्मादिट्ठि 43/2117, धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर-305008 के पते पर भिजवायें।

विशेष :—इस पत्रिका में छपे लेखकों के विचारों से सम्पादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

सम्पादक की क़लम से

पिछली सदी का अन्तिम सत्य :

पिछली सदी का अन्त समुद्री भूकम्प से उत्पन्न सुनामी लहरों के प्राकृतिक कहर के कारण डेड से दो लाख मनुष्यों के एक साथ दुःखद अन्त से हुआ। वे विकट लहरें किनारे पर युगों से बसे गाँव-के-गांव लील गयीं। हजारों लोग निराश्रित-अनाथ हो गये। इनकी सबसे अधिक मार मलेशिया के सुमात्रा, भारत के अण्डमान-निकोबार द्वीप-समूह, चैन्नई के तटीय भाग तथा श्रीलंका के वासियों पर पड़ी।

अनेक देश पीड़ित जन की सहायता हेतु आगे आये। खाद्य-सामग्री, वस्त्र, दवाइयां तथा दैनिक उपभोग की अनेक आवश्यक वस्तुएं एवं धन-राशि जुटीं। हमने अपने देश के पीड़ितों की ही सहायता नहीं की, बल्कि श्रीलंका के लोगों की भी मदद की। भारतीय जन की तन, मन एवं धन की गति उन्हीं की तरफ मुड़ गयी। सच, सबकी आंखें दूर-दर्शन के पर्दे पर या अखबार के पन्ने पर अटकी रह गयीं। जिनके आत्मीय लोग इन स्थानों पर रह रहे थे, उनकी चिन्ता का पार नहीं था। दूरभाष के डायल पर उनकी अंगुलियां घूमती ही रहीं, पर उधर के टेलीफोन की समय पर कोई घण्टी बोलती ही नहीं थी। अब स्थिति सामान्य तो हो गयी है, पर कहर की कचोट न जाने कब तक सालती रहेगी ?

प्रायः ऐसा ही होता है। जब किसी संकट या प्राकृतिक आपदा की घड़ी आती है तो दुनिया-भर के लोगों की सहानुभूति भी उमड़ पड़ती है, मानवीय एकता के सभी टूटे तार आन्तरिक रूप से जुड़ने लगते हैं और वेदना की करुण मौन झंकृति से झनझना उठते हैं। लोगों को एक दूसरे के दुःख का एहसास होने लगता है। वे सब अपने-आप को एक-दूसरे के सन्निकट महसूस करते हैं, परस्पर समन्वित अनुभव करते हैं—जैसे एक ही नौका में सवार वे किसी तूफान से गुजरे हों। उनमें किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती; देश, जाति, धर्म तथा रंग को लेकर भेद-भाव नहीं रहता। यह है दुःख की भयंकर घड़ी में मानव-मन की स्थिति।

सुख की सामान्य स्थिति में ऐसा नहीं होता। वह स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत होती है। सुखी आदमी अपने सुख को अन्यों में बाँटता नहीं, उसे वह आत्म-केन्द्रित होकर स्वयं ही भोगता है। उसे दूसरों की तरफ देखने की फुर्सत ही नहीं मिलती। और कभी नजर अन्य सुखी व्यक्तियों की ओर चली भी जाती है तो बहुधा वह उनके प्रति अपने मन में ईर्ष्या ही पालता है। पता नहीं, वह दूसरों को सुखी देखकर खुश क्यों नहीं होता। फूल में रह कर भी दूसरों का सुख उसे कांटों

जैसा लगने लगता है। वह अपने को अलग तथा विशिष्ट महसूस करना चाहता है, समानुभूति के आन्तरिक स्वर-तार से उसका मन अछूता ही रह जाता है।

दुःख की अनुभूति मनुष्य को ही नहीं, प्राणी मात्र को समन्वित करती है,; उन्हें एक ही मानवीय स्पन्दन से स्पन्दित करती है, करुणा व मैत्री के धागे से बांधती है और यही दुःख की सुखदता है। इसके विरुद्ध सुख की स्थिति मनुष्य को एक-दूसरे से दूर ले जाती है; सुख में स्वार्थ की भावना होती है, परार्थ अथ च सर्वार्थ का भाव नहीं। वस्तुतः यही सुख की दुःखदता है।

दुःख सर्वोन्मुखी होता है, सुख आत्मोन्मुखी; दुःख में विस्तार होता है, सुख में संकुचन; दुःख में जनवादी सर्वहारिता है, सुख में पूँजीवादी एकाधिकारिता। एक में समष्टिगतता है, दूसरे में व्यष्टिनिष्ठता। तो क्या हमें इस सर्वहारिता के लिए, इस समष्टिगतता के लिए, इस विस्तार के लिए, इस सहानुभूति एवं सहयोग के लिए भूकम्पी संहारक झटकों, अतिवृष्टियों, अकालों, बाढ़ों, ज्वालामुखीय विस्फोटों, महामारियों, सुनामियों की जरुरत है? क्या हम तभी एक दूसरे के निकट आयेंगे, क्या तभी हमारे अन्तःमन में अपनत्व की, करुणा की, मैत्री की तरगें उठेंगी और क्या हम तभी अपने सुख को किञ्चित् तिलांजलि देकर संकट-ग्रस्त लोगों की ओर अभिमुख होंगे? क्या तभी मानव-मानव के बीच भाईचारा उत्पन्न होगा? और यह सब भी तभी तक जब तक वह संकट है, दुःख है? जब संकट नहीं होगा, दुःख नहीं होगा, तब? यह स्थिति भयावह है। मानव की इसी मनःस्थिति के कारण इस विश्व में भिन्नता है, पृथकता है, भेद है, दुराव है, कलह है—देश का, जाति का, धर्म का, रंग का। वस्तुत. जिसे हम सुख मान कर चल रहे हैं, वह: दुःख ही तो है—पर किसी को इस प्रवृत्यात्मक दुःख की, दुःख-चक्र की प्रत्यक्षतः अनुभूति तो हो, उसे तसल्ली से अनुभव करने की फुर्सत तो हो। सहानुभूति में द्वैत का भाव होता है, समानुभूति में एकप्राणता का।

काश! लोगों में परस्पर सहानुभूति ही नहीं, समानुभूति भी जागे। और यह समरसता सदैव बनी रहे। सुख में भी, दुःख में भी! एवमस्तु!

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में बुद्ध तथा बौद्ध धर्म

—धर्मप्रिय बी. एस. सहवाल

(गतांक से आगे)

इतिहास सम्बंधी विसंगतियाँ :

महायान व हीनयान : पूर्वापर अस्तित्व का प्रश्न—यह आश्चर्य का विषय है कि स्वामीजी इतिहास के अच्छे शोधकर्त्ता विद्वान् होते हुए भी बौद्ध धर्म की महायान शाखा को हीनयान से अधिक प्राचीन मानते हैं। इस सम्बंध में उनके विचार हैं—"बौद्ध धर्म के दोनों मतों में मैं महायान को अधिक प्राचीन मानता हूँ। माया का सिद्धान्त ऋक् संहिता के समान प्राचीन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में माया शब्द का उपयोग हुआ है जो प्रकृति से विकसित हुआ है। इस उपनिषद् को कम-से-कम मैं बौद्ध धर्म से प्राचीन मानता हूँ।" (स्वामी स्वरूपानन्द को लिखा गया पत्र, वि. सं., पृष्ठ 550)। उनकी यह मान्यता इतिहास सम्बंधी विसंगति को जन्म देती है।

वस्तुतः प्रारम्भ में बौद्ध धर्म में इस प्रकार के कोई मत थे ही नहीं। वह तो समय की प्रगति के साथ बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ती चली गयी और भगवान् बुद्ध के बाद सम्राट् अशोक तक आते-आते उसमें बहुत वृद्धि हो गयी। इसमें सभी प्रकार की पृष्ठ-भूमि के सभी जातियों के लोग सम्मिलित होते चले गये। इनमें से अधिकांश को धर्म-मार्ग के मूल आदर्शो पर चलना तथा उसका साधनागत अभ्यास करना कठिन प्रतीत होने लगा। इससे बौद्ध धर्म के कुछ चिन्तकों के मन में उसके व्यक्तिगत अभ्यास के मूल आदर्श को यथावत् सुरक्षित रखने की चिन्ता पैदा हो गयी। उनके सम्मुख यह समस्या थी कि यदि वे धर्म-साधना के व्यक्तिगत मूल व कठिन अभ्यास को यथावत् बनाये रखते थे तो उन्हें इस प्रकार बढ़ी हुई अनुयायियों की संख्या में से अधिकांश को छोड़ना पड़ता था और यदि वे सब को साथ लेकर चलते थे तो सद्धर्म के व्यक्तिगत अभ्यास के मूल आदर्श को छोड़ना पड़ता था या उसमें अनचाही ढ़ील देनी पड़ती थी। एक तरफ धर्म साधना-के व्यक्तिगत अभ्यास के मूल आदर्श को यथावत् रखने का तकाजा, दूसरी तरफ अनुयायियों की बढ़ती हुई संख्या का आकर्षण। ऐसी स्थिति में उन्होंने बढ़ती हुई संख्या के आकर्षण के बनिस्पत धर्म-साधना के व्यक्तिशः कठिन अभ्यास के मूल आदर्श को ही प्रश्रय दिया, उसी को अपनाये रखा। किन्तु अधिकांश लोगों ने उन्हें कट्टरवादी करार देते हुए उनका साथ छोड़ दिया और मूल बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ही कुछ कर्मकाण्डीय बातों को जोड़ते हुए एक भिन्न सम्प्रदाय की स्थापना कर ली। इस नये सम्प्रदाय को उन्होंने

'महायान' की संज्ञा से अभिहित किया और उसके विरुद्ध जो बचे उनकी मान्यता को 'हीनयान' नाम दे दिया। उनकी दृष्टि में यह नामकरण ठीक ही था "हीनयान का अर्थ छोटी गाड़ी (जहाज) या छोटा पंथ है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा कम ही व्यक्ति जीवन के लक्ष्य-स्थान तक जा सकते हैं किन्तु महायान का अर्थ बड़ी गाड़ी (जहाज) या बड़ा पंथ है। इसके द्वारा अनेक व्यक्ति जीवन के लक्ष्य-स्थान तक पहुँच सकते हैं।"[1] डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"महायान अर्थात् बड़ी गाड़ी के आरोहियों का दावा है कि वे नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े, सबको अपनी विशाल गाड़ी में बैठा कर निर्वाण तक पहुंचा सकते हैं, जहां हीनयान (सँकरी गाड़ी) वाले केवल संन्यासियों और विरक्तों को आश्रय दे सकते हैं।.... आगे चल कर फिर महायान में भी कई टुकड़े हो गये। सबसे अन्तिम टुकड़े हैं-वज्रयान और सहजयान, जो अपनी गाड़ी को सचमुच इतनी मजबूत और सहज बना सके कि उसमें पाण्डित्य और कृच्छ्रसाध्यता का अर्थात् कष्टपूर्ण व्रत-नियम आदि का कोई अंग रहा ही नहीं। इस प्रकार महायान सम्प्रदाय, या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध सम्प्रदाय सन् ईसवी के आरम्भ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया, यहां तक कि अन्त में जाकर लोकमत में घुल-मिल कर लुप्त हो गया।"[2] इसी क्रम में आगे चल कर डॉ. द्विवेदी ने कहा—"सन् ईसवी की पहली शताब्दी में महायान प्राचीन बौद्ध धर्म से अलग हो गया।"[3]

अतः यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक दृष्टि से महायान शाखा, जिसे स्वामीजी ने मत कहा है, का प्रस्फुटन एवं विकास बौद्ध धर्म के उस प्राचीन मूल तने से हुआ जिसको महायानियों ने हीनयान की संज्ञा दी थी क्योंकि वे उसके आदर्श को स्वार्थ-पूर्ण समझते थे, जिसमें व्यक्ति की अपनी मुक्ति के लिए तो प्रयास था, किन्तु अन्यों की, सर्व साधारण की अथवा बहुजन की मुक्ति का कोई प्रयास नहीं था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि निर्वाण की प्राप्ति व्यक्तिगत साधना के बल पर ही की जा सकती है, भिक्षु या साधक व्यक्ति को स्वयं ही परिश्रम व पुरुषार्थ करना पड़ता है, कोई अन्य व्यक्ति उसे तार नहीं सकता। "तुम्हेहि किच्चितं आतप्पं, अक्खातारो तथागता', अर्थात् 'तपना तो तुम्हें ही पड़ेगा, कोई तथता पर आया हुआ व्यक्ति साधना-मार्ग को तथा उस पर चलने की विधि को अच्छी तरह से आख्यात कर देगा, समझा देगा'—भगवान् बुद्ध के मुख से निकले ये पालि भाषा के शब्द इस

---

1 देखिए श्री सतीश चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्र मोहनदत्त कृत An Introduction to Indian Philosophy का हिन्दी संस्करण, पृष्ठ 102, (पुस्तक भण्डार, पटना)

2. 3. देखिए डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृष्ठ 6.

सम्बंध में कितने सार्थक एवं उपादेय हैं, प्रेरणा-स्रोत भी ! वस्तुतः 'अप्प दीपो भव' ही व्यक्तिगत साधना का मूल आधार है और यही हीनयानियों का आदर्श है। किन्तु इसके विपरीत महायानियों ने भगवान् बुद्ध के उन शब्दों को अपना आदर्श माना जिसमें भिक्षुओं को बहुजन के सुख के लिए, बहुजन के हित के लिए, लोक पर अनुकम्पा करते हुए चारों दिशाओं में विचरण करते रहने का निर्देश दिया गया है—'चलथ भिक्खवे चारुकं बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय, लोकानुकम्पाय।' सम्यक् सम्बुद्ध होने के बाद भगवान् गौतम बुद्ध भी तो लोक-कल्याण के लिए जीवन-भर परिभ्रमण करते रहे थे और लोगों को दुःख-विमुक्ति का उपदेश देते रहे थे। अतः स्व-कल्याण के साथ लोक-कल्याण की भावना भी बौद्ध धर्म का आदर्श है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य अथ च सत्य है कि सामान्यतः मानव-मन श्रम-साध्यता से, कठिनाई से आराम की ओर, आसानी की ओर मुड़ जाता है। उसे सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल तथा अन्तः साधनों की बनिस्पत बाह्य साधनों को अपनाना सहज प्रतीत होता है। शायद इसीलिए विभिन्न सम्प्रदायों ने लोगों की अधिक-से-अधिक संख्या को अपनी ओर आकर्षित करने व चिपकाये रखने की गरज से मुक्ति के नाम पर अनेक प्रकार के सरल, स्थूल व बाह्य-कर्मकाण्डों व संस्कारों जैसे-पूजा-पाठों, नाम-जपों, व्रत-उपवासों, भजन-कीर्त्तनों का बहुरंगी आविष्कार किया और भीड़ को चमत्कृत-वशीकृत बनाये रखने के लिए विविध तान्त्रिक क्रिया-प्रक्रियाओं का सृजनायोजन किया। हमें यह कहने में किञ्चित् मात्र भी संकोच नहीं है कि इस तरह विकसित बौद्ध धर्म की महायान शाखा भी इसमें पीछे नहीं रही। उसने भी लोगों की बड़ी संख्या को लुभाये-चिपकाये रखने के लिए न्यूनाधिक ऐसे ही कर्मकाण्डों-उपक्रमों का सहारा लिया। इसी कारण बौद्ध धर्म के प्राचीन रूप की तुलना में वह अधिक लोकगम्यता, सरलता तथा उदारता की ओर अभिमुख होती चली गयी और इस तरह उसकी सारी ऊर्जा पारमार्थिकता के एकान्त लक्ष्य से हट कर पूर्णतः लौकिक-काल्पनिक सुख के इन्हीं उपक्रमों में खपने, क्षय-व्यय होने लगी। उसे यह ध्यान ही नहीं रहा कि संख्यात्मकता के व्यामोह में गुणात्मकता प्रायः खो जाती है। जहां तक निर्वाणिक साधना का प्रश्न है, वह प्रत्येक व्यक्ति का अपना तप-प्रयास ही है, और व्यक्ति-व्यक्ति के ऐसे तप-प्रयास मिल कर ही सुखी-शान्त समाज का निर्माण करते हैं। अतः महायान का लोक-कल्याण में, सर्वभूतहितवाद में विश्वास उदात्त होते हुए भी व्यवहार्य नहीं कहा जा सकता।

यह बात सही है कि बौद्ध धर्म में 'महायान' शब्द का आविष्कार पहले हुआ और उसके आविष्कारकों ने ही उसकी तुलना में गिरे हुए या छोटे अर्थ में हीनयान शब्द का प्रयोग किया। पर बौद्ध धर्म की जिस व्यक्तिगत साधना व

निर्वाणिक मुक्ति के लिए हीनयान शब्द का प्रयोग किया गया, वह उसका प्राचीन मूल आदर्श ही है, कोई बाद का नया सिद्धान्त नहीं। शायद महायान तथा हीनयान शब्दों के इसी पूर्वापर प्रयोग को स्वामीजी सब-कुछ मान बैठे। जिन मूल सिद्धान्तों एवं आदर्शों के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया गया, उन सिद्धान्तों तथा आदर्शों को प्राप्त करने हेतु अपनाये गये साधनों के पूर्वापर प्रयोग पर उनका ध्यान ही नहीं गया।

उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि तथा तथ्यों को देखने के बाद बौद्ध धर्म की दोनों शाखाओं या उनके दोनों मतों में से महायान को अधिक प्राचीन मानने की स्वामीजी की बात किसी के गले उतरने योग्य नहीं लगती है।

'माया' शब्द की अप्रासंगिकता—अब लें माया शब्द तथा उसके सिद्धान्त की बात। माया शब्द भ्रान्ति, विभ्रम, अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है। उसे प्रकृति का पर्यायवाची भी कहा गया है। बुद्ध से 1400 वर्ष बाद पैदा हुए शंकराचार्य की दृष्टि में तो यह प्रकृति ही माया है और इसीलिए यह जगत् ही मिथ्या है। इस माया का प्रयोग बाद के सन्त-साहित्य में भी खूब हुआ है, आज भी हो रहा है। हमारी जानकारी में भगवान् बुद्ध ने माया शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं किया। उन्होंने तो 'अविज्जा' (अविद्या) शब्द का प्रयोग किया है। इसी अविद्या को उन्होंने समस्त भव-चक्र या दुःख-चक्र का मूल कारण कहा है। साधना के द्वारा अपनी सम्बोधि को जगाने पर यह अविद्या विदीर्ण हो जाती है और साधक को परम सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

हमें यह पता नहीं है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् बौद्ध धर्म से प्राचीन है या नहीं, क्योंकि कुछ उपनिषदों में तो उनके गौतम बुद्ध के बाद में रचित होने के संकेत मिल चुके हैं। जिन्हें अभी तक बौद्ध धर्म से अधिक प्राचीन होना माना जा रहा है, उनकी रचना का कोई निश्चित् काल, उस काल की कोई निश्चित् घटना अथवा उसका कोई पुरा-साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है। क्योंकि उन्हें बिना किसी पुख्ता प्रमाण के अधिक प्राचीन कह दिया है' इसलिए वे अधिक प्राचीन हो गये। इस सम्बंध में साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह से रहित किन्हीं तटस्थ शोध-कर्त्ताओं के द्वारा जैसे-जैसे शोध होगा, वैसे-वैसे उनके वास्तविक रचना-काल का पता चल सकेगा। पर इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद बुद्ध से बहुत प्राचीन है। माया का सिद्धान्त भी उसके समान प्राचीन हो सकता है। परचहाँ तक ऋक् संहिता का प्रश्न है, वह तो पूर्व की मौखिक परम्परा के श्रुत-स्मृत ऋग्वेद का ही बाद में लिपिबद्ध किया गया रूप है। फिर इस 'माया' शब्द के प्रयोग के आधार पर किसी उपनिषद् को बुद्ध या उनके द्वारा उद्घाटित धर्म से अधिक प्राचीन बताने का क्या

प्रयोजन है—समझ में नहीं आता। हाँ, यह कहना कि 'माया' शब्द ऋक् संहिता में आया है और गौतम बुद्ध ने भी उसका प्रयोग किया है तो उसके आधार पर उनकी पूर्वता-अपरता सिद्ध हो सकती थी। किन्तु जैसा कि हमारी जानकारी के अनुसार गौतम बुद्ध ने अपने उपदेशों में इस शब्द का कहीं प्रयोग ही नहीं किया, तो फिर इस माया शब्द के आधार पर यह पूर्वता या अपरता कैसे निर्धारित की जा सकती है? पर यहां तो इसकी आवश्यकता ही नहीं है।

वस्तुत: 'प्राचीन' शब्द से हमें बहुत मोह हो गया है। हम किसी तरह से अपने मत-वाद को प्राचीन से प्राचीन सिद्ध करने में गर्व का अनुभव करने के आदी हो गये हैं। कुछ 'नवीन' भी गर्व की चीज हो सकता है—इस पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जैसे कुछ भी नवीन हमारी दृष्टि में हेय है और कुछ भी प्राचीन प्रेय है। पर बुद्ध के प्रसंग से माया शब्द की प्राचीनता या अर्वाचीनता की बात में हमें कोई तुक नज़र नहीं आती। पृथ्वी पर मानव-सृष्टि के साथ ही भाषा का जन्म हो गया था, मनुष्य में वस्तुओं, विचारों, भावों आदि को उनकी विशेषता या गुण-स्वभाव आदि के अनुसार नाम (शब्द) देना प्रारम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे यह भाषा विकसित होकर और भी समृद्ध होती चली गयी और अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन गयी। समय की गति के साथ इसमें ध्वनिगत एवं अर्थगत परिवर्तन भी आते चले गये, आगे भी आते चले जायेंगे।

'माया' शब्द का प्राचीनता की दृष्टि से इतिहास हो सकता हैं, पर इसका यह मतलब नहीं कि जिन-जिन मतों, वादों अथवा ग्रंथों में उसका प्रयोग हुआ है, वे सभी प्राचीन हैं। फिर तो सन्त-मत में या सन्त-साहित्य में माया शब्द का प्रचुरता से प्रयोग होने से वह भी उतना ही प्राचीन हो जायेगा, जितना स्वामीजी के अनुसार, श्वेताश्वतर उपनिषद् या फिर, ऋक् संहिता में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है—जैसा कि उन्होंने उदाहरण दिया है—तो, जितनी ऋक् संहिता।

शिवोपासना और बौद्ध धर्म—स्वामीजी के अनुसार पूर्व से स्थापित शिव की उपासना या पूजा के स्थलों को बौद्धों ने हथियाने का प्रयास किया किन्तु जब वे इसमें सफल नहीं हो पाये तो उन्होंने प्राचीन शिव-स्थलों के पास ही अपने तीर्थ-स्थलों का निर्माण कर लिया। स्वामी स्वरूपानन्द को लिखे गये अपने पत्र में ही इस सम्बंध में उनके विचार हैं—"बौद्ध धर्म के सम्बंध में मुझे कुछ दिनों से बहुत-सा ज्ञान हुआ है। मैं इसका प्रमाण देने को तैयार हूं कि (1) शिव-उपासना अनेक रूपों में बौद्ध-मत से पहले स्थापित थी और बौद्धों ने शैवों के तीर्थ-स्थानों को लेने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल होने पर उन्होंने उन्हीं के निकट नये स्थान बनाये, जैसे कि बोध गया और सारनाथ में पाये जाते हैं। (2) अग्नि पुराण में गयासुर की कथा का बुद्ध से सम्बन्ध नहीं है—जैसा कि डॉ. राजेन्द्रलाल मानते हैं—परन्तु

उसका सम्बन्ध केवल पहले से ही वर्तमान् एक कथा से है। (3) बुद्ध देव गया-शीर्ष पर्वत पर रहने गये, इससे यह प्रमाण मिलता है कि वह स्थान पहले से ही था। (4) गया पहले से ही पूर्वजों की उपासना का स्थान बन चुका था और बौद्धों ने अपनी चरण-चिह्न-उपासना में हिन्दुओं का अनुकरण किया है। (5) प्राचीन से प्राचीन पुस्तकें भी यह प्रमाणित करती हैं कि वाराणसी शिव-पूजा का बड़ा स्थान था, आदि आदि।"[1]

आइये, स्वामीजी की उक्त बातों को भी तनिक इतिहास की कसौटी पर कस कर देख लें।

जहाँ तक शिव-उपासना या पूजा का प्रश्न है—इस सम्बंध में सिन्धु घाटी सभ्यता के मोहन-जो-दाड़ो व हड़प्पा की खुदाई में मिली पुरा-वस्तुओं एवं उनके बारे में लगाये गये अनुमानों की सचाई जान लेना आवश्यक है। वैसे प्रार्थना-पूजा अथवा उपासना का क्रम आदिम काल में ही विकसित हो गया था। प्राकृतिक शक्तियों की क्रूरता व रुद्रता के सामने असहाय मनुष्यों ने अपनी रक्षा के लिए उन्हें शान्त-प्रसन्न रखने के उपक्रम के रूप में उनकी पूजा-स्तुतियों का सहारा लिया। वे इसीलिए भूतों-प्रेतों को भी शान्त रखने के लिए नृत्य-संगीत आदि की रस्म अदा करते थे और अपने पूर्वजों-पितृों की आत्माओं सहित वृक्षों, साँपों, जंगली जानवरों की भी पूजा करते थे। जादू-टोने का आविष्कार भी उन्होंने विभिन्न प्रकार की बीमारियों, महामारियों तथा प्राकृतिक आपदाओं से मुक्ति पाने की भावना से किया था। गणचिह्नवाद का विकास भी उनकी इस धारणा से हुआ कि उनके पूर्वजों के कुलों व समूहों का उद्भव किसी पशु, वृक्ष या किसी प्राकृतिक घटना से सम्बंधित था। उसे ही उन्होंने अपना गण-चिह्न मान लिया। किन्तु मोहन-जो-दाड़ो व हड़प्पा के भग्नावशेषों में कुछ वस्तुएँ ऐसी मिली हैं जिनके आधार पर हम सिन्धु घाटी सभ्यता के लोगों के धर्म के विषय में कुछ उपयोगी बातें जान सकते हैं। ये वस्तुएं मुद्राएँ और धातु, पत्थर व मिट्टी की बनी मूर्तियाँ हैं।[2] 'इनमें से एक मुद्रा पर किसी ऐसे नग्न पुरुष-देवता की आकृति अंकित है जिसके तीन मुख हैं और सिर पर सींग बनाये गये हैं। इस देव-मूर्ति के चारों तरफ अनेक पशु भी बनाये गये हैं। ये पशु हिरण, गेंडा, हाथी, शेर और भैंसे हैं। अनेक विद्वानों का विचार है कि यह आकृति पशुपति शिव की है जिसकी पूजा आगे चल कर हिन्दू धर्म में भी प्रारम्भ हुई। वहां अनेक ऐसे प्रस्तर मिले हैं जिन्हें विद्वान् लोग योनि और लिंग के प्रतीक मानते हैं।... कोई आश्चर्य नहीं कि पशुपति शिव के उपासक सिन्धु-सभ्यता के लोग योनि और लिंग की प्रतिमा बना कर प्रकृति की प्रजनन-शक्ति की भी पूजा

1. देखिए विवेकानन्द संचयन, पृष्ट 550
2. देखिए भारतीय संस्कृति का विकास-सत्यकेतु विद्यालंकार, पृष्ठ 48

करते हों'।[1] पर यह केवल अनुमान ही है। इस प्रकार मुद्राओं पर नग्न मूर्तियों का अंकित होना व पत्थरों को लिंग-योनि का आकार देना प्रकृति-प्रदत्त काम-भावनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति भी तो हो सकती है। यह बात अलग है कि आज के हिन्दू धर्म ने इस प्रकार के लिंग तथा योनि को शिव एवं पार्वती का प्रतीक देकर इस काम की सृजन-प्रक्रिया को धार्मिक अन्विति दे दी और शिव-पुराण तो छोड़ो, लिंग-पुराण तक की रचना कर दी।

वेद संहिताओं में सविता, सोम, अग्नि, मित्र, इन्द्र, वरुण, आदि की स्तुति एवं आह्वान् से सम्बंधित मन्त्र-श्लोक तो उपलब्ध हैं और यज्ञों में उनके प्रसादन हेतु आहुतियों का आयोजन भी है किन्तु शिव की इस तरह पूजा अथवा उपासना या उसके प्रति प्रसादन का कोई उल्लेख नहीं है। हाँ, ईश्वर के अनेक नामों में एक नाम शिव भी है पर उस शिव का नहीं, जिसे बाद में पौराणिकों ने 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश' त्रिदेवों में महेश के रूप में प्रस्थापित किया है। इस सम्बंध में 'भारतीय चिन्तन परम्परा' ग्रंथ के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक श्री के. दामोदरन के विचार दृष्टव्य हैं—"यह ध्यान देने की बात है कि वेदों में शिव का उल्लेख नहीं है। न ही उन्हें देवी माता की पूजा करते देखते हैं।"[2] फिर बौद्ध धर्म के मूल पालि ग्रंथों तथा प्राचीन जैन-ग्रंथों में तो उसके इस रूप में उल्लिखित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हमें तो किसी ने किसी उपनिषद् में भी शिव की इस उपासना-पूजा का कोई चिह्न होना नहीं बताया। पर चूंकि उपनिषदों की संख्या निश्चित् नहीं है, यद्यपि वे 108 बताये जाते हैं, जिनमें से बहुतों के तो किसी ने दर्शन भी नहीं किये होंगे, फिर भी कोई शिवोपनिषद् नाम का 109वां उपनिषद् निकल आवे या किसी शिव-भक्त द्वारा उसकी नवीन रचना कर दी जाकर उसे प्राचीन-से-प्राचीन घोषित कर दिया गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हां, विद्वानों से हमारा विनम्र निवेदन है कि वाल्मीकि-कृत रामायण तथा वेदव्यास-कृत महाभारत में कहीं शिव-उपासना अथवा उसकी पूजा का स्पष्ट उल्लेख या वर्णन हो तो उसे अवश्य हमारी जानकारी में लाने का उपकार करें। हम कृतज्ञ होंगे।

हमारी सम्मति में सिन्धु-घाटी-सभ्यता कालीन मुद्रा पर अंकित नग्न पुरुष-आकृति किसी अन्य देवता की हो सकती है, पर शिव की नहीं। मुद्रा में अनेक पशुओं के अंकन के आधार पर उसे पशुओं का नियंत्रक या स्वामी भी माना जा सकता है, लेकिन शिव के अर्थ में पशुपतिनाथ नहीं। तो फिर प्रश्न उठता है कि इस शिव-उपासना या पूजा का प्रचलन कब और कहाँ से हुआ ?

---

1. वही पृष्ठ 49-50
2. देखिए भारतीय चिन्तन परम्परा-के. दामोदरन, तीसरा हिन्दी संस्करण, पृष्ठ 37

वस्तुतः जबसे पौराणिक ब्राह्मण-पुरोहित वाद का इस देश में प्रचलन हुआ, तभी से शिव-उपासना का भी प्रचलन हुआ। यह शिव-उपासना इसी पौराणिक ब्राह्मण-पुरोहितवाद की देन है। वैसे 'पंचाध्यायी' के लेखक लकुलीश नाम के आचार्य द्वारा शैवधर्म का प्रवर्तन हुआ बताते हैं, पर उनका कोई निश्चित् व प्रामाणिक काल नहीं बताया गया। इन्हीं लकुलीश के अनुयायी शैव कहलाने लगे तथा इन्हीं से कापालिक और कालमुख जैसे सम्प्रदायों का विकास हुआ बताया। श्री के. दामोदरन के अनुसार शैव और वैष्णव सम्प्रदायों का किस प्रकार उद्भव हुआ, यह भली-भांति ज्ञात नहीं है।....ईसवी सन् की प्रथम शताब्दियों के कुशान राजा शिव-भक्त थे; उन्होंने शिव की मूर्ति या त्रिशूल और नन्दी जैसे उनके प्रतीकों को अपने सिक्कों पर छपवाया भी परन्तु ईसवी सन् की दूसरी और चौथी शताब्दियों में नव ब्राह्मणवाद के साथ हम वैष्णव धर्म का भी उत्थान देखते हैं। गुप्त-शासक विष्णु के परम भक्त थे। ये शैव और वैष्णव धर्म दक्षिण भारत में कब और क्यों आविर्भूत हुए इसका उत्तर श्री दामोदरन ने अपने ग्रंथ 'भारतीय चिन्तन परम्परा' में इस प्रकार दिया है—"दक्षिण भारत में छठी शताब्दी में या उसके आस-पास जो शैव और वैष्णव सम्प्रदाय आविर्भूत हुए उनका स्रोत चाहे जो भी रहा हो, यह एक अटल सत्य है कि उत्तर भारत के उन समानान्तर धर्मों से ये बिल्कुल भिन्न थे जो वैदिक, पूर्व वैदिक तथा वैदिकोत्तर काल में प्रचलित थे। दक्षिण भारत के 'नायनार' लोगों ने सर्व प्रथम बौद्ध तथा जैन धर्मो के विरूद्ध विद्रोह का बिगुल बजाया था। ये लोग अपने शिष्यों को साथ लेकर जगह-जगह घूमते-फिरते मन्दिरों का दर्शन करते रहते थे। वे सारे रास्ते नाचते-गाते जाते थे और बौद्ध व जैन धर्मों के प्रति लोगों के मन में घृणा तथा अपने सन्देश के प्रति उत्साह भरते थे। राजा लोग भी इस नयी व्यवस्था में दीक्षित किये गये और शीघ्र ही वे उसके संरक्षक बन गये। इसी युग में दक्षिण भारत में बड़े-बड़े और सुन्दर मन्दिर बनवाये गये जिनके लिए राजाओं और ठाकुरों के खजाने हमेशा खुले रहते थे।"* श्री दामोदरन ने तो यहां तक सत्य का उद्घाटन करते हुए लिखा—"पतनोन्मुख बौद्ध और जैन धर्मों की परम्पराओं का अनुसरण करके बहुत से हिन्दू मन्दिर, मठ और पाठशालाएं (धार्मिक प्रवचनों के स्थान) देश के भिन्न-भिन्न भागों में स्थापित की गयीं। कभी-कभी बौद्ध और जैन मन्दिर भी बलपूर्वक हिन्दू मन्दिरों में परिवर्तत कर लिये जाते थे। आक्रामक शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के हाथों जैनियों और बौद्धों को क्रूर हिंसा का शिकार बनना पड़ा था।"+

अब लीजिए शिव से सम्बधित नाथ सम्प्रदाय की किञ्चित् ऐतिहासिक

* देखिए भारतीय चिन्तन परम्परा-के दामोदरन पृष्ठ, 254-255

+देखिए वही पृष्ठ 256

वानगी। मत्स्येन्द्रनाथ को स्वयं आदिनाथ शिव का शिष्य होना बताया जाता है। इसी मत्स्येन्द्रनाथ के प्रधान शिष्यों में गोरखनाथ हुआ जो पूर्व में गोरखपा (गोरक्षपाद) नाम का सहजयानी बौद्ध सिद्ध था। बौद्ध धर्म में विकसित सहजयानी-साधना को सीख कर उसमें अपने अनुकूल जोड़-तोड़ तथा कुछ नामों आदि को बदल कर उसने एक पृथक योग-मार्ग की स्थापना कर ली और उसे हठ-योग की संज्ञा दे दी। इस तरह ईसा की नवीं और दसवीं शताब्दियों में नेपाल के तराई प्रदेश में शैव और बौद्ध साधना के सम्मिश्रण से एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। नाथपंथी आदिनाथ शिव की पूजा करने लगे और नेपाल के बौद्ध नेवारी लोग आदिबुद्ध की पूजा करने लगे। 'नेपाल-माहात्म्य' के अनुसार जो बुद्ध की पूजा करता है, वह शिव की पूजा करता है। इसी प्रकार नेपाली बौद्धों का 'स्वयंभू पुराण' पशुपति नाथ की पूजा को बुद्ध की ही पूजा मानता है। काठमाण्डू में स्थापित बुद्ध मन्दिर को तो बुद्धनाथ मंदिर ही कहा जाता है। इसी प्रकार शयन की स्थिति में निर्मित बुद्ध की मूर्ति को नीलकण्ठ कहा जाता है जिससे क्षीर-सागर में लेटे विष्णु का भी भान होता है। काठमाण्डु से तनिक दूरी पर पहाड़ी पर स्थित बुद्ध के भव्य विराट मंदिर को भी स्वयंभू मंदिर कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि नेपाल में बुद्ध तथा बुद्ध से संबंधित धारणा को आज भी वहाँ के शैव नाथ पंथियों तथा हिन्दू जनता ने किस गहराई से अपनाया हुआ है। 'नीलकण्ठ' 'स्वयंभू' तथा 'नाथ' नाम तो पौराणिक शिव के ही नाम हैं। वैसे भगवान् गौतम बुद्ध ने स्वयं अपनी साधना के बल पर सम्बोधि तथा निर्वाणिक स्थित प्राप्त की थी, उसमें किसी गुरु अथवा आचार्य बीच में नहीं थे, इसलिए उन्हें बौद्ध वाङ्गमय में स्वयंभू भी कहा गया है। वस्तुत: वे स्वयं गुरु थे और गुरु का कोई गुरु नहीं होता।

इतिहास की इस गवेषणा को देखते हुए कौन तटस्थ व्यक्ति यह कहेगा कि शिव-उपासना बौद्धों से पहले स्थापित थी। वस्तुस्थिति तो यह है कि ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में गौतम बुद्ध ने जिस वैज्ञानिक धर्म का उद्घाटन किया था और लोक-कल्याण हेतु उसका प्रवर्तन किया था, वह अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में से गुजरता हुआ भी ईसा की दसवीं-ग्यारवीं शताब्दी तक भारत में अक्षुण्ण रहा। काल के इस विशाल विस्तार में उसके विरुद्ध अनेक दार्शनिक मत-वाद तथा इतर धार्मिक-साम्प्रदायिक आन्दोलन उठते-खड़े होते रहे। इन्हीं में से सांस्कृतिक पुनर्जागरण के नाम पर नव ब्राह्मणवाद का जन्म हुआ जिसके अन्तर्गत पौराणिक शैव और भागवत सम्प्रदाय उद्भूत हुए। शिव तथा शिवलिंग की उपासना या पूजा इसी शैव सम्प्रदाय की देन है। यद्यपि कश्मीर के शैव एवं शाक्त सम्प्रदाय दक्षिण के शैवों से भिन्न हैं किन्तु उनका प्रादुर्भाव भी मध्यकाल में ही हुआ, उससे पहले नहीं; क्योंकि उक्त दोनों ही कश्मीरी शैव परम्पराओं में बौद्ध धर्म के अवशिष्ट चिह्न

आज भी मौजूद हैं। अतः बुद्ध या बौद्ध धर्म से पहले किसी भी रूप में शिव-उपासना के स्थापित होने की बात विशुद्धतः कल्पना है। और यदि स्वामी जी महायान के अन्तर्गत ईसा के बाद में विकसित मात्र तांत्रिक वज्रयान तथा सहजयान जैसी उसकी शाखाओं-प्रशाखाओं को ही बौद्ध धर्म या बौद्ध मत मानते हों तो वह अलग बात है। पर इस प्रसंग में हम यहाँ स्वामीजी द्वारा मद्रास (चैन्नई) में 'भारत के महापुरुषों पर दिये गये भाषण का वह अंश प्रस्तुत करना चाहेंगे जिसमें उन्होंने स्वयं ने ब्राह्मण धर्म और मूर्ति-पूजा को बौद्ध धर्म की सृजना के रूप में स्वीकार किया है। "कितने ही ऐसे आधुनिक पण्डितों के, जिनसे अधिक ज्ञान की अपेक्षा की जाती है, ग्रंथों को पढ़ने से यह विदित होता है कि बुद्ध ने ब्राह्मणों की मूर्ति-पूजा उठा दी। वे नहीं जानते कि बौद्ध धर्म ने ही भारत में ब्राह्मण-धर्म और मूर्ति-पूजा की सृष्टि की।"* शायद ब्राह्मण धर्म से स्वामीजी का तात्पर्य वैदिक चातुर्वर्ण्य के अनुसार ब्राह्मण धर्म से न होकर सांस्कृतिक पुनरुत्थान के नाम पर बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया में उभरे नव ब्राह्मणवाद से है। यह नव ब्राह्मणवाद या ब्राह्मण धर्म ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर गुप्तकाल तथा उसके भी बाद तक के मध्य-काल के दौरान अस्तित्व में आकर उत्कर्षता को प्राप्त हुआ था। इसी के अन्तर्गत बुद्ध की भव्य प्रतिमाओं के अनुकरण में शिव तथा विष्णु एवं उसके राम-कृष्ण आदि अन्य अनेक अवतारों की मूर्तियों का निर्माण होकर बड़े-बड़े मन्दिरों में उनकी स्थापना हुई थी। अतः जब स्वामीजी यह मानते हैं कि ब्राह्मण धर्म तथा उसकी मूर्ति-पूजा ही बौद्धों की देन है तो फिर इस प्रकार की ब्राह्मणीय शिव-उपासना या पूजा के बौद्ध धर्म से पहले स्थापित होने की उनकी बात स्वयं ही गिर जाती है।

बौद्ध स्थान और शैव तीर्थ—स्वामीजी ने यह कहकर तो गंगा ही उल्टी बहा दी कि बौद्धों ने शैवों के तीर्थ स्थानों को लेने का प्रयत्न किया जबकि प्राचीन भारतीय इतिहास का पन्ना-पन्ना कह रहा है कि ब्राह्मण-पुरोहितों या हिन्दू-पुजारियों ने ही बौद्ध मठों-मन्दिरों को, उनके कमजोर पड़ने पर, हथिया लिया बोध गया के प्रसिद्ध प्राचीन बुद्ध-मन्दिर पर तो अब तक ब्राह्मण-पुरोहितों ने ही कब्जा किया हुआ था जिसका उल्लेख हम पूर्व में भी कर चुके हैं। दक्षिण भारत में नयनार भक्तों द्वारा बल-पूर्वक बौद्ध मठों व मन्दिरों को छीनने का उल्लेख दक्षिण भारत के ही प्रसिद्ध विद्वान् के. दामोदरन अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन परम्परा' में कई बार कर चुके हैं जिसका हवाला हमने भी पूर्व में दिया है। इसी प्रकार बौद्ध-मठों व विहारों के शैव-मठों में बदले जाने की बात डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने शोध-ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में कर चुके हैं जिसे हमने भी उद्धृत किया है।

---

* देखिए विवेकानन्द संचयन, पृष्ठ 253

और तो और स्वयं स्वामीजी भी पुरी के जगन्नाथ मन्दिर के बौद्ध मन्दिर होने की बात स्वीकार कर चुके हैं। फिर भी वे उल्टी बात, और वह भी बिना प्रमाण के, कह गये। लगता है उन्हें अपनी ही बात के अपने ही शब्दों द्वारा कट जाने की चिन्ता नहीं थी। किन्तु चलो, स्वामीजी के श्रीमुख से इतना ही निकला कि बौद्धों ने शैवों के तीर्थ-स्थानों को लेने का प्रयत्न किया पर वे उसमें सफल नहीं हो पाये। इसलिए उन्होंने उन्हीं शैव-स्थानों के निकट अपने नये स्थान बना लिये। उदाहरण के लिए स्वाजीजी ने बौद्धों द्वारा ऐसे बनाये गये स्थानों में बोध गया और सारनाथ का उल्लेख किया है। पर देखें असलियत क्या है ?

बोध गया वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है जहाँ सिद्धार्थ गौतम को सम्बोधि प्राप्त हुई थी। इसीलिए उसका नाम बोध गया पड़ा। इस बोध गया के निकट प्रसिद्ध नगर गया है, जो फल्गु नदी के किनारे बसा हुआ है और उसी में पौराणिक विष्णु-पद मन्दिर है। पर यह गया नगर प्राचीन काल में कभी भी शिव की पूजा-स्थली नहीं रहा, न ही वहाँ उल्लेखनीय कोई अति प्राचीन शिव-मन्दिर मौजूद है। हां, सारनाथ वाराणसी या काशी से कुछ दूरी पर अवश्य है। लेकिन सारनाथ वह स्थान है जहां बुद्ध ने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया था, कौंडिण्य आदि पाँच ब्राह्मण संन्यासियों को धर्म का प्रथम उपदेश दिया था। यह स्थान पालि बौद्ध साहित्य में ऋषिपत्तन मृगदाव अर्थात् 'मृगों का वन' के नाम से भी उल्लिखित है। बुद्ध तथा बौद्ध धर्म से सम्बंधित इतने महत्वपूर्ण इन स्थानों पर भी यदि बौद्ध मन्दिर, चैत्य और विहार आदि निर्मित नहीं होते तो फिर स्वामीजी या फिर उनके कोई विद्वान् शिष्य-अनुयायी बतायें कि किन स्थानों पर निर्मित होते ? फिर सारनाथ के इस बौद्ध स्थान से पूर्व वाराणसी में शिव का मन्दिर बने होने का क्या प्रमाण है ? यह विश्वनाथ का मन्दिर उसके बाद भी तो बना हो सकता है। विश्वनाथ का 'नाथ' शब्द तो इसी तथ्य की ओर संकेत कर रहा है क्योंकि वह तो नाथ-सम्प्रदाय की ही देन है। यह नाथ-सम्प्रदाय की देन न भी हो, तो भी ईसा की प्रथम शताब्दियों में पनपे शैव धर्म का प्रतीक तो है ही। सारनाथ की प्राचीनता तो सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित वह चार सिंहों के मुख तथा धर्म-चक्र आदि से खुदा स्तम्भ-शेष ही बता रहा है जिसे आज के स्वतन्त्र भारत ने अपने राष्ट्र-चिह्न के रूप में स्वीकार किया है। अशोक के समय वाराणसी में इस प्रकार के शैव-चिह्न या मन्दिर के होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। स्वामीजी को लुम्बिनी, कुशीनगर, श्रावस्ती, राजगिरि, वैशाली, नालन्दा, अमरावती आदि प्रसिद्ध प्राचीन बौद्ध स्थानों का तो ध्यान ही नहीं रहा। लुम्बिनी जहाँ सिद्धार्थ का जन्म हुआ और जो अब नेपाल में हैं, वैशाली, जिसमें स्थापित अशोक स्तम्भ आज भी बुद्ध तथा बौद्ध धर्म की निश्चित् प्राचीनता का इतिहास बता रहे हैं, श्रावस्ती और राजगिरि जिनके जेतवन तथा वेणुवन आज

भी बुद्ध के वर्षावास के साक्ष्य के रूप में मौजूद हैं तथा और भी बहुत-से स्थान, जिन्हें पुरातत्व विभाग ने खुदाई कर खोज निकाला है, जहाँ बुद्ध ने भ्रमण-विहार किया था और अपने उपदेश दिये थे, उन्हें स्वामीजी भूल ही गये। कुशीनगर तो बुद्ध से संबंधित उन चार महत्वपूर्ण स्थानों में से एक है जहाँ बुद्ध ने अपनी अन्तिम साँस ली थी और महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था। साँची, अमरावती, नालन्दा, अजन्ता, कन्हेरी, एलोरा आदि प्रसिद्ध बौद्ध स्थान तथा पर्वत-गुफाएँ, जो ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा के बाद भी छठी शताब्दी तक अस्तित्व में आयीं, क्या ये भी इसीलिए अस्तित्व में आई कि वहाँ कहीं पूर्व से स्थित शैव-स्थानों को बौद्ध लोग हथिया नहीं पाये थे ? काशी, गया जैसे स्थान गौतम बुध से भी बहुत प्राचीन हैं— इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। हाँ, गया को अग्नि-पुराण से भी पूर्व की किसी गया असुर की कथा से जोड़ देने की करामात अवश्य ही मनगढ़ंत है, इसमें संदेह नहीं।

अग्नि पुराण या उससे भी पूर्व की गयासुर की कथा से बुद्ध के सम्बन्ध होने या न होने की बात में तुक नहीं है। पुराणों की सृष्टि का तो एक काल निश्चित् हो गया है, वैसे तो आज भी पुराण लिखे जा रहे हैं। फिर क्या किसी असुर के नाम से किसी धर्म-स्थली का नामकरण हो सकता है ? ऐसा होना संदेह के परे नहीं है। रावण जैसे असुर के नाम से ही जब लंका का नाम रावण या रावणपुरी नहीं हुआ तो गयासुर के नाम से इस स्थान का नाम गया कैसे हो सकता है ? इससे हमारा मतलब यह नहीं है कि पुराणों में कतई इतिहास नहीं होता, किन्तु उनमें कल्पना से भरपूर मिथिक (धार्मिक मिथिक) कथाएँ ही अधिक हैं।

हाँ, सिद्धार्थ गौतम ने बुद्ध होने से पूर्व गया के निकट पर्वत पर घोर तपस्या अवश्य की थी जिसमें उनका शरीर सूख कर कांटे की तरह हो गया था। पर्वत पर छोटी-सी गुफा में सिद्धार्थ की तपस्या में रत मूर्ति है। इस गुफा में एक तरफ काली माई की छोटी सी मूर्ति और बना दी गयी है जो बाद की प्रतीत होती है। इसमें काली माई का एक पण्डा बौद्ध तीर्थ-यात्रियों से पुजापे-स्वरूप धन-प्राप्ति की आशा में आकर बैठ जाता बताया। गुफा के पास ही पर्वत पर बने बौद्ध मठ में तिब्बती भिक्षु रहते हैं जो उस बौद्ध गुफा की देख-भाल करते हैं। यदि यही गया-शीर्ष पर्वत है, तो वह तो बुद्ध से पहले का ही है, बुद्ध के समय या उनके बाद तो वह पर्वत बना नहीं होगा। पर्वत तो प्रकृति का नैसर्गिक अंग है। स्वामीजी द्वारा इस गया-शीर्ष पर्वत के विषय में किया गया यह कथन तो वैसा ही हुआ कि कोई कहे कि जिस बोधि-वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ गौतम को बोधि प्राप्त हुई वह तो वहाँ पहले ही मौजूद था।

जहाँ तक बौद्धों द्वारा हिन्दुओं के चरन-चिह्न-उपासना के अनुकरण करने

का प्रश्न है—उसके पीछे स्वामीजी की शायद यही धारणा काम कर रही है कि गया के विष्णु-पद मन्दिर में विष्णु के चरण की पूजा पहले से ही होती आ रही है और बौद्धों ने बोधगया मन्दिर के चारों तरफ बुद्ध के जो चरण स्थापित किये हैं वे बाद में उसी के अनुकरण में स्थापित किये हैं। बोध गया का प्राचीन मन्दिर अशोक से भी पूर्व का है। अशोक ने वहीं पीपल (बोधि वृक्ष) के मूल में वज्रासन निर्मित करवाया था जहां भगवान् बुद्ध ने सम्बोधि प्राप्त की थी। सम्बोधि प्राप्त करने के बाद बुद्ध सात सप्ताह तक ध्यान में निमग्न रहे थे और ऐसी अवस्था में बोधि-वृक्ष के आस-पास वे जहां भी खड़े रहे वहीं उन्होंने जीवन-जगत् से सम्बंधित वैज्ञानिक सत्यों एवं सिद्धान्तों का पता लगाया था। उन्हीं स्थानों पर बौद्धों द्वारा उनके चरण-चिह्न बना दिये गये। वे चिह्न पूजा के निमित्त नहीं, बल्कि स्मृति-स्वरूप बनाये गये हैं—इसलिए बनाये गये हैं कि लोगों को यह पता रहे या पता चल सके कि बुद्ध ने किस स्थान पर किस सिद्धान्त की गवेषणा की थी। कोई श्रद्धालु भक्त वहां भी फूल रख जाये तो वह बात अलग है। बौद्ध मन्दिर में तो बुद्ध की भव्य मूर्ति ही है, उसमें कोई चरण-चिह्न नहीं। बाद में इस मन्दिर के परिवर्द्धन के समय भी उसके गर्भ-गृह में विष्णु-पद मन्दिर की तरह बुद्ध-पद स्थापित नहीं किये गये। यदि गया के विष्णु-पद का ही अनुकरण बोध गया में होता तो उसमें भी बुद्ध की मूर्ति की जगह बुद्ध-पद (चरण) ही स्थापित होते और विष्णु-पद की तरह उसी की पूजा तथा उसी का पाठ होता। सही बात तो यह है कि स्वामीजी ने बुद्ध से सम्बंधित स्थानों तथा उनकी शिक्षाओं को जहां भी मौका-अवसर देखा उन्हें येन-केन-प्रकारेण हिन्दू धर्म का अनुकरण बताने में देर नहीं लगाई, जैसे बुद्ध के पास अपना कुछ कहने के लिए या फिर उनके धर्मानुयायियों के पास अपना कुछ करने के लिए कुछ था ही नहीं। (क्रमशः)

(पृष्ठ 23 का शेष)

व्यवहारिक, आध्यात्मिक पक्षों का विकास हो, जिससे सभी को सुख शान्ति मिले, जो जीवन में व्यवस्था, नियमबद्धता, चेतनता एवं पवित्रता के साथ पूर्णता को प्रदान करे, वही आदर्श आर्य महापुरुषों, सनातन ऋषि-महर्षियों एवं सद्ग्रन्थों का निर्देश ही 'धर्म' है। जो मानव जीवन का इस लोक तथा परलोक में हित साधन करे, जिससे मनुष्य मृत्यु पर्यन्त अभय, अदीनता व आत्म-शांति का अनुभव करे, जिससे वास्तविक सन्तोष, श्री वैभव तथा सुयश प्राप्त हो, समाज तथा राष्ट्र में जो सुव्यवस्था, सम्पन्नता तथा चेतना लाये उसे हम 'धर्म' की संज्ञा देने का साहस कर सकते हैं।

धर्म-ग्रंथों में धर्म

—विशाल भारद्वाज, अमृतसर

[लेखक श्री विशाल भारद्वाज गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर में जूनियर रिचर्स फैलो हैं। आपने इस लघु शोध लेख में संस्कृत के तथा अन्य भाषा के धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध 'धर्म' शब्द के परिभाषागत विभिन्न अर्थ एवं उसके महत्व को संकलित कर उन्हें एकरूपता प्रदान करने का प्रयास किया है।-सम्पादक]

—×—

भारत में प्राचीन काल से लेकर आज तक अनेक धर्मों—हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म, सिक्ख धर्म आदि का अस्तित्व देखने को मिलता है। 'धर्म' का महत्व इतना अधिक है कि 'गौतम धर्म-सूत्र' में वेद को धर्म का मूल कहा गया है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्रानुसार जो धर्मज्ञ हैं, जो वेदों को जानते हैं, उनका मत ही धर्म-प्रमाण है। कपिल मुनि के सांख्यदर्शन की व्यांख्या करते हुए ईश्वरकृष्ण ने भी 'सांख्यकारिका' में कहा है—'धर्म करने से ऊपर वर्तमान स्वर्गादि लोकों में जीव का गमन होता है तथा अधर्म से अधोगति होती है, अर्थात् नरक, पाताल लोक, पशु-पक्षी आदि निम्न श्रेणी की योनियों में जन्म होता है।' कारिका सं.—44

सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि यह प्रसिद्ध 'धर्म' शब्द संस्कृत के उन शब्दों में से एक है, जिनका प्रयोग कई अर्थों में होता आया है। यह शब्द अनेक परिवर्तनों एवं विपर्ययों के चक्र में घूम चुका है।

'धर्म' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ देखने पर पता चलता है कि 'धर्म' शब्द 'धृत्र धारणे' धातु से बना है, जिसका अर्थ हैं—धारण करना, बनाये रखना अथवा पुष्ट करना। 'ऋग्वेद' की ऋचाओं में अधिक स्थलों पर 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'धार्मिक विधियों' अथवा 'धार्मिक क्रिया-कलापों तथा संस्कारों' के रूप में प्रयुक्त हुआ है। कुछ स्थलों पर 'धर्म' शब्द का अर्थ 'ऋग्वेद' में ही 'निश्चित् नियम' अथवा आचरण नियम लिया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में 'धर्म' शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'छान्दोग्योपनिषद्' मे 'धर्म' का एक महत्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म की तीन शाखाएँ मानीं गई हैं—(1) यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थ धर्म, (2) तपस्या अर्थात् तापस धर्म, तथा (3) ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के घर में अन्त तक रहना। यहाँ 'धर्म' शब्द आश्रमों के विलक्षण कर्त्तव्यों की ओर संकेत कर रहा है। अतः यह 'धर्म' शब्द मानव के विशेषाधिकारों, कर्त्तव्यों, बंधनों का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार-विधि का परिचायक एव वर्णाश्रम का द्योतक हो गया। 'तैत्तरी-

योपनिषद' में छात्रों के लिए जो 'धर्म'' शब्द प्रयुक्त हुआ है. वह भी इसी अर्थ में है। 'महाभारत' के अनुसार 'धर्म'' से ही प्रजा उत्पन्न हुई है, सबको धारण करने के कारण ही इसे 'धर्म' कहा जाता है। धर्म अधोगति में जाने से बचाता है तथा जीवन की रक्षा करता है। अत: जिससे धारण तथा पोषणादि होता हो, वही धर्म है। महर्षि कणानानुसार, 'जिससे इस लोक में अभ्युदय हो, सर्वांगीण उन्नति हो तथा मानव जीवन के लक्ष्य निःश्रेयस की प्राप्ति हो, वही धर्म है। 'मीमांसाकार' जैमिनी के अनुसार वेद जिस बात की घोषण करता है, वही धर्म है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार (पवित्र) देश में उपयुक्त समय पर विधिपूर्वक जो भीं द्रव्य योग्य व्यक्ति को दान में दिया जाता है, वह धर्म का लक्षण है। वेद-धर्मशास्त्र सज्जनों के आचरण, अपनी आत्मा के अनुकूल (उत्तम) कार्य तथा विवेकपूर्ण संकल्प से उत्पन्न हुई इच्छा—ये सभी धर्म का मूल कहे गए हैं।

'डा. राधाकृष्णन' के अनुसार' "The Principle which we to observe in our daiy life and social relations are consituted by what is called Dharam. It is truth embodiment in life and power to reform our nature."

— Religion and society : Dr. Radha Krishnan, P-104.

श्री पाण्डुरंग वामन काणे ने अपनी पुस्तक 'धर्म-शास्त्र का इतिहास' में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'धर्म'' शब्द से धर्मशास्त्रों का अभिप्राय किसी ईश्वरीय मत अथवा सम्प्रदाय से नहीं है, अपितु जीवन के एक ऐसे ढंग अथवा आचरण की एक ऐसी संहिता से है, जो एक व्यवित के रूप में तथा समाज का सदस्य होने के रूप में व्यक्ति की क्रियाओं को नियमित करता है तथा जिसका प्रयत्न व्यक्तित्व का क्रमबद्ध विकास करना तथा उसे इस योग्य बनाना है, ताकि वह मानव अस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त कर सके।''

कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई 'धर्म'' की परिभाषा इस प्रकार है —

(1) "Religion is the sense of apprehension of the infinite"

—An Encyclopedia of Religion : Max Mullar, Vol.14, Page-69.

(2) "Religion is the recognition that all things are menifestations of a power which transcends our knowtedge,"

—The Origin of Comparative Study of Religions : Herbert Spenser, Page–4

(शेष पृष्ठ 23 पर)

बौद्ध विवाह-संस्कार : परिशिष्ट

मञ्जुश्री, पोर्ट ब्लेअर

[पिछले अंक में बौद्ध विवाह-संस्कार विधि दी गयी थी। उसके अन्तर्गत प्रारम्भ में की जाने वाली मूल बुद्ध-वन्दना (नमन), ली जाने वाली त्रिरत्न-शरण एवं पंचशील की व्याख्या यहां परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत की गयी है।-सम्पादक]

—×—

नमन (बुद्ध-वन्दना) :

"नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।"

अर्थात् उसे नमन करता हूं जो भगवान् हैं, अरिहत हैं और सम्यक् रूप से सम्बुद्ध है।

क्या है 'भगवतो' अथवा भगवान् शब्द का अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति ? 'भगवत्' शब्द दो पदों के योग से बना है—'भग तथा वत्'। इसी प्रकार भगवान् शब्द में भी दो पद हैं—'भग' तथा 'वान्'। संस्कृत-हिन्दी शब्द कोशों में 'भग' के अन्य अर्थों के साथ कीर्त्ति, दीप्ति, उत्कर्ष, ऐश्वर्य, सौन्दर्य आदि अर्थ भी दिये गये हैं। 'वान्' शब्द 'वत्' के समान स्वामित्व के भाव को प्रकट करने वाला प्रत्यय पद है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण शब्द-युग्म 'भगवत्' या 'भगवान्' का अर्थ अमित कीर्त्ति, दीप्ति तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न कोई भी व्यक्ति है। क्योंकि सिद्धार्थ गौतम बुद्ध अनन्त करुणा, अनन्त मैत्री, अनन्त मुदिता और अनन्त उपेक्षा से सम्पन्न-समृद्ध हैं, दीप्त हैं, अत: वे भगवान् हैं। इसीलिए पालि भाषा में गौरव-गरिमा के अर्थ में 'भगवा' (भगवान्) शब्द का प्रयोग हुआ है—"भगवाति गारवाधि-वचनं"। किन्तु इसके साथ ही पालि भाषा में 'भगवा' अर्थात् भगवान् शब्द जिन मुख्य अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, वे हैं—

"भग्गरागोति, भग्ग दोसोति, भग्ग मोहोति भगवा।" अर्थात् जिसने राग को भग्न कर दिया, द्वेष को भग्न कर दिया, मोह के सभी क्लेश-संस्कारों को भग्न कर दिया, वह भगवान् है।

यहाँ पालि भाषा में संस्कृत का 'भग' शब्द ही 'भज' और 'भञ्ज्' धातु के अर्थ से सम्पन्न होकर क्रमश: विभाजन, भग्न अथवा टुकड़े-टुकड़े करने का वाचक हो गया प्रतीत होता है। इसी से "भजि, विभजि पविभजि धम्म-रतनन्ति भगवा" अर्थात् भगवान् वह जिसने एक वैज्ञानिक की भांति विश्लेषण के आधार पर शोध कर धर्म-रत्न को उसकी सम्पूर्ण गहराइयों तक जान लिया। पालि ग्रंथों में 'भगवा' शब्द के अर्थ को और भी गहनता तथा विस्तार के साथ स्पष्ट किया गया है। अपनी अपूर्व साधना-तपस्या से सिद्धार्थ गौतम बुद्ध भगवान्

शब्द के उक्त सभी अर्थों से सम्पन्न हैं, इसलिए वे भगवान् हैं और हम उन्हें सभी अवसरों पर सिरशः नमन करते हैं—विवाह के संस्कार के शुभ अवसर पर भी।

इसी प्रकार 'अरहतो' शब्द के अर्थ को भी समझा दिया जाना उपयुक्त होगा। पालि भाषा का यह 'अरहत' शब्द भी 'अरि' तथा 'हत्' दो पदों से बना है जिसमें अरि का अर्थ दुश्मन है और हत् का अर्थ नष्ट करना अर्थात् जिसने अपने सभी दुश्मनों को नष्ट कर दिया वह 'अरहत' या 'अरिहन्त' है। कौन हैं ये दुश्मन ? ये दुश्मन अपने ही चित्त के विकार हैं जो उसकी गहराइयों में अनु-शय-आशय अथवा आस्रव के रूप में साँप-विच्छु की तरह दबे-छिपे पड़े हैं और समय असमय जाने-अनजाने चेतन मन पर आक्रमण करते रहते हैं। साधना के बल पर इन्हीं विकारों को जड़ से उखाड़ कर चित्त को परम परिशुद्ध किया जाता है। क्योंकि सिद्धार्थ गौतम बुद्ध ने इसी तरह अपने समस्त चित्त-विकारों को समूल नष्ट कर दिया, अतः वे 'अरहत' अथवा 'अरिहन्त' हैं और इसीलिए उन्हें सिरशः नमन।

इसी क्रम में आगे 'सम्मासम्बुद्ध' शब्द आया है जिसका अर्थ है जिसने सम्यक् रूप से जीवन और जगत् का यथाभूत ज्ञान-दर्शन कर लिया है, सम्पूर्ण सम्बोधि प्राप्त कर ली है। सिद्धार्थ गौतम ने ऐसा ही किया, अतः वे ही सम्यक् सम्बुद्ध हैं और इसीलिए उन्हें सिर झुका कर नमस्कार।

त्रिरत्न शरण :

बौद्ध धर्म में जिन्हें तीन रत्न कहा गया है, वे हैं—बुद्ध, धर्म और संघ और पालि भाषा में इन तीन रत्नों की शरण तीन बार इस प्रकार ली जाती है :—

(1) बुद्धं सरणं गच्छामि—मैं बुद्ध की शरण में जाता हूं।

(2) धम्मं सरणं गच्छामि—मैं धर्म की शरण में जाता हूं।

(3) संघ सरणं गच्छामि—मैं संघ की शरण में जाता हूं।

क्या है बुद्ध की शरण ? बुद्ध अर्थात् वह जिसने सर्वोच्च बोधि प्राप्त कर ली। बोधि ही बुद्ध में रत्न है। इस रत्न की प्राप्ति से ही कोई बुद्ध होता है। सिद्धार्थ गौतम बुद्ध इसी रत्न की प्राप्ति से बुद्ध हुए। इसीलिए बुद्ध की शरण। बोधि का यह रत्न प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है, पर वह अविद्या से आच्छन्न है, ढ़ंका हुआ है, सुप्त है। अविद्या के खोल को तोड़ कर अपनी इस सुप्त बोधि को कोई भी व्यक्ति जगा सकता है और अविद्या से मुक्त हो सकता है। और इसलिए बुद्ध की शरण में जाने का अर्थ अपनी बोधि की शरण में जाना भी है। भगवान् गौतम बुद्ध के द्वारा बताये गये स्वानुभूति-जन्य आर्य मार्ग पर इस चल कर इस बोधि को प्राप्त किया जा सकता है और दुःखों से विमुक्त हुआ जा सकता है।

यह 'धम्मं सरणं' क्या है ? धर्म का मतलब है वह विधान या ऋत जो सभी कालों में, सभी स्थानों पर तथा सभी मनुष्य अथवा प्राणियों में समान रूप से

क्रियमाण है, संचरित है, प्रवृत है; जिसने प्रकृति के प्रत्येक अणु-परमाणु को धारण किया हुआ है और जिसे प्रकृति के प्रत्येक अणु-परमाणु ने धारण किया हुआ है, जो सनातन परिवर्तन का, उदय-व्यय का क्रम है, जिसके विना न लौकिक गति है न पारलौकिक। धर्म शब्द का अर्थ गुण अथवा स्वभाव भी है। यही सब धर्म में रत्न है। जब पालि भाषा में 'धम्मं सरणं गच्छामि' बोला जाता है तो वह इसी रत्न की शरण में जाना है। धर्म शब्द दूसरे सामान्य अर्थों में भी प्रचलित है, यथा-पुण्य कर्म, पर-हित या लोक-हित के कार्य, सम्यक् कर्त्तव्य, विधि-अनुकूल मर्यादित जीवन का निर्वहन, शीलाचरण आदि। इसके अतिरिक्त भी इसके स्थूल, सतही व कर्मकाण्डीय अर्थ भी हैं, जैसे—व्रत, उपवास, पूजा, धर्म-ग्रंथों का पाठ, अनुष्ठान आदि। किंतु ये स्थूल, सतही व कर्मकांडीय अर्थ समान रूप से सर्वत्र सार्वजनीन नहीं हैं। इसलिए ये मूल बौद्ध धर्म में मान्य नहीं हैं :

और यह 'संघं सरणं' क्या है? संघ कहते हैं उन गृहत्यागी भिक्षुओं के संगठित पवित्र रूप को जिन्होंने अपने चित्त को विकारों से सर्वथा मुक्त कर निर्वाण की उत्तरोत्तर चारों अवस्थाओं--स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अरहन्त—में से किसी भी एक या सभी को प्राप्त कर लिया है। ऐसे किसी एक भिक्षु, जिसने करुणा, मैत्री, मुदिता, उपेक्षा के गुणों को संचित कर लिया है और अपने में पारमी का बल एकत्रित कर लिया है, को भी संघ कहते हैं। ऐसे विमुक्तावस्था के भिक्षु-संन्यासियों की शरण में जाकर उनसे सद्प्रेरणा प्राप्त करना ही 'संघं सरणं गच्छामि' है।

यहाँ यह बात ध्यान में लाने योग्य है कि त्रिरत्न-शरण में कोई ईश्वर, देवता, गुरु अथवा आचार्य किसी व्यक्ति या भक्त को यह प्रलोभन देकर अपनी शरण में आने के लिए नहीं कहता कि वह उनका कष्ट निवारण कर देगा या भव-सागर के पार लगा देगा बलिक व्यक्ति स्वयं ही सोच-समझ कर बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण में जाता है। इस प्रकार चल कर जाने में आत्म-प्रेरणा का बल है, पुरुषार्थ का भाव है। पर किसी को अपनी शरण में बुलाना अपनी शक्ति अथवा ठकुराई का प्रदर्शन है, उसमें बाह्य प्रलोभन है, दुर्बलता, दीनता, हीनता, असहाय होने की स्थिति में किसी की दया पर निर्भर रहने का भाव है।

बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण में जाने के अपने वचन की तीन बार आवृत्ति की जाती है। पहले भिक्षु अथवा विद्वान् उपासक स्वयं इन्हें बोले और प्रत्येक बार वर तथा वधू उसका अनुकरण करे अर्थात् उसके पीछे-पीछे बोले। इस प्रकार के त्रिवचन से मन संकल्पित व सुदृढ़ हो जाता है।

पंचशील :

विवाह जैसे किसी भी संस्कार के समय पूर्व में बुद्ध-वंदना व त्रिरत्न-शरण के

साथ पंचशील भी ग्रहण किए जाते हैं। क्या हैं ये पंचशील ? ये भी प्रण या प्रतिज्ञा-जन्य शिक्षा पद हैं, जो पालि भाषा में इस प्रकार हैं—

(1) 'पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि' अर्थात् मैं प्राणियों के अतिपात (हिंसा) से विरमण करने (दूर रहने) का शिक्षा-पद (शिक्षा) ग्रहण करता हूं।

(2) 'अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि' अर्थात् मैं न दी हुई वस्तु आदि के आदान (लेने) से विरमण करने का शिक्षा-पद ग्रहण करता हूं।

(3) 'कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि' अर्थात् मैं काम सम्बन्धी मिथ्याचार यानी व्यभिचार से विरमण करने का शिक्षा-पद ग्रहण करता हूं।

(4) 'मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि' अर्थात् मैं मिथ्यावाद (झूठ, अपशब्द, चुगलखोरी, कटुवचन, व्यर्थवचन आदि) से विरमण करने का शिक्षा-पद ग्रहण करता हूं।

(5) 'सुरा-मेरय-मज्ज पमादट्ठाणा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि' अर्थात् मैं कच्ची-पक्की शराब तथा प्रमादकारी सभी पदार्थों से विरमण करने का शिक्षा-पद ग्रहण करता हूं।

जयमंगल अट्ठगाथा :

इस अट्ठगाथा में भगवान् के शौर्य-तेज की विजय-गाथा के प्रताप से मंगल-जय की कामना की गई है। ये गाथाएँ इस प्रकार हैं—

(1) बाहुं सहस्समभिनिम्मित सावुधन्तं,
गिरिमेखलं उदित घोरससेन मारं।
दानादि-धम्म विधिनाजितवा मुनिन्दो,
तं तेज सा भवतु ते जयमंगलानि ॥

अर्थात् 'जिन मुनीन्द्र (भगवान् गौतम बुद्ध) ने गिरिमेखला नामक गजराज पर आरूढ़, शस्त्रों से सज्जित सहस्र भुजाधारी मार को उसकी भीषण सेना के सहित अपनी दानादि धर्म-पारमिताओं से जीत लिया, उनके तेज (प्रताप) से तुम्हारी जय हो, तुम्हारा मंगल हो।'

(2) मारातिरेकमभियुज्झित सब्ब रतिं,
घोरम्पनालवकमक्खमथद्धयक्खं।
खन्ति सुदन्तविधिना जितवा मुनिन्दो,
तं तेजसा भवतु ते जयमंगलानि ॥

अर्थात् 'जिन मुनीन्द्र (भगवान् गौतम बुद्ध) ने सारी रात युद्ध करके अत्यन्त दुर्धर्ष आलवक नामक यक्ष को अपनी क्षान्ति (शांति व संयम) के बल से जीत लिया, उनके तेज (प्रताप) से तुम्हारी जय हो, तुम्हारा मंगल हो!'

(3) नालागिरिं गजवरं अतिमत्तभूतं,
दावग्गि-चक्कमसनीव सुदारुणन्तं ।
मेत्तम्बुसेक-विधिना जितना मुनिन्दो,
तं तेजसा भवतु ते जयमंगलानि ।।

अर्थात् 'जिन मुनीन्द्र (भगवान् गौतम बुद्ध) ने दावाग्नि-चक्र या विजली की तरह अत्यन्त दारुण तथा अतिमत्त नालागिरि गजराज को अपने मैत्री रूपी जल की वर्षा से जीत लिया, उनके तेज (प्रताप) से तुम्हारी जय हो, तुम्हारा मंगल हो !'

(4) उक्खित्त खग्गमतिहत्थ-सुदारुणन्तं,
धावन्ति योजनपथंगुलिमालवन्तं,
इद्धीभिसंखत्तमनो जितवा मुनिन्दो,
तं तेजसा भवतु ते जयमंगलानि ।।'

अर्थात् 'जिन मुनीन्द्र (भगवान् तथागत) ने हाथ में तलवार उठाकर योजन तक दौड़ने वाले अत्यन्त भयानक अंगुलिमाल को अपने ऋद्धि-बल से जीत लिया, उनके तेज (प्रताप) से तुम्हारी जय हो, तुम्हारा मंगल हो !'

(5) कत्वान कट्ठमुदरं इव गब्भिनीया,
चिञ्चाय दुट्ठवचनं जनकाय मज्झे ।
सन्तेन सोमविधिना जितवा मुनिंदो,
तं तेजसा भवतु ते जयमंगलानि ।।

अर्थात् 'जिन मुनीन्द्र (भगवान् गौतम बुद्ध) ने पेट पर काष्ठ बाँधकर गर्भिणी होने का नाटक करने वाली चिञ्चा के द्वारा जन-सभा के मध्य कहे गये दुष्ट वचनों को अपने सान्त सौम्य बल से जीत लिया, उनके तेज (प्रताप) से तुम्हारी जय हो, तुम्हारा मङ्गल हो !'

(6) सच्चं विहाय मतिसच्चक-वादकेतुं,
वादाभिरोपितमनं अतिअन्धभूतं ।
पञ्ञापदीप जलितो जितवा मुनिन्दो,
तं तेजसा भवतु ते जय मङ्गलानि ।।

अर्थात् जिन मुनीन्द्र (भगवान गौतम बुद्ध) ने सत्य-विमुख, असत्यवाद के पोषक, वाद-विवादी, अहंकार में अंधे हुए सच्चक नामक परिव्राजक को अपना प्रज्ञा-प्रदीप जला कर जीत लिया, उनके तेज (प्रताप) से तुम्हारी जय हो, तुम्हारा मंगल हो !'

(7) नन्दोपनन्द भुजंग विवुधं महिद्धं,
पुत्तेन थेर भुजगेन दमापयन्तो ।

इद्धूपदेस-विधिना जितवा मुनिन्दो,
तं तेजसा भवतु ते जयमङ्गलानि ॥

अर्थात् 'जिन मुनीन्द्र (सिद्धार्थ गौतम बुद्ध) ने अपने पुत्र (शिष्य) स्थविर (महा मौद्गल्यायन) द्वारा विविध महान् ऋद्धियों से सम्पन्न नन्दोपनन्द नामक भुजंग को अपनी ऋद्धि तथा उपदेश के बल से जीत लिया, उनके तेज (प्रताप) से तुम्हारी जय हो, तुम्हारा मंगल हो !'

(8) दुग्गाहदिट्ठि भुजगेन सुदट्ठ-हत्थं,
ब्रह्मं विसुद्धिजुतिमिद्धि बकाभिधानं ।
ञाणागदेन विधिना जितवा मुनिन्दो,
तं तेजसा भवतु ते जयमङ्गलानि ॥

अर्थात् 'जिन मुनीन्द्र (भगवान् गौतम बुद्ध) ने मिथ्या दृष्टि के भयानक सर्प से दंशित विशुद्धज्योतिर्मय वक ब्रह्मा को ज्ञान की वाणी से जीत लिया, उनके तेज (प्रताप) से तुम्हारी जय हो, तुम्हारा मंगल हो !' (क्रमश:)

('धर्म-ग्रंथों में धर्म'-पृष्ठ 17 का शेष)

गैल्वे के अनुसार धर्म मानव का वह विश्वास है, जो उसकी अपनी सामर्थ्य से परे है, जहां वह अपनी भावनात्मक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करके जीवन की स्थिरता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तथा जिसे वह अपनी प्रार्थना तथा सेवा द्वारा प्रकट करता है।[1] दुर्खीम महोदय के कथानानुसार 'धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों तथा आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है, जो इस पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय से संयुक्त करती है।[2]

परिभाषाओं के उक्त वर्गीकरण तथा विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि इनमें से अधिकांश परिभाषाओं में धर्म के स्वरूप, लक्ष्य, आदर्श, मूल्य, आचरण आदि का समावेश हुआ है। 'धर्म' की परिभाषा में इन पहलुओं का समावेश धर्म के सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टिकोण को धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण के अधिक निकट ला देता है।'

अत: उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं तथा विचारों के आधार पर 'धर्म' के स्वरूप को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—'जिससे मानव जीवन के

(शेष पृष्ट 15 पर)

---

1. The Philosoply of Religion : Gallaway, Page-1466
2. Elementary Forms of the Religious Life :
   Emile Durkheim Page 47

Who am I ?

—Prof. O. S. Atri, Jhansi

Prologue : Kant, walking in the street, happens to strike a passer-by with the stick that he was waving in his meditative carelessness.

The man : "Who are you ?"

Kant : "If I owned the whole world, I would give you one half if you could answer that question for me."

—×—

Who Am I ?
That is the million dollar Question !
I may be anybody,
I may be somebody.
I may be nobody.
But the question is—

Who am I ?
They say—"That thou Art !"
(It is highly satisfying—nay, flattering !)
They say—"I think, therefore, I exist !"
(What happens when I do not think !)

They say—"Know Thyself !"
How can I know myself ?
I can not look into myself
And I can not stand beside myself
To look at myself.

How can I know myself ?
The atom has been split
An infinite energy released
But how can I split my igo ?
They also say—"I am a bundle

Of sensations and perceptions"
(Or a bundle of contradictions !)
But who am I ?

That is the million-dollar question !

What I refuse to see and admit is
That I may be a mere drop of water
In the mightly ocean of universe !

★

अच्छा नहीं लगता

—धर्मप्रिय बो. एस. सहवाल

(1)

मेरी लेखनी को विश्राम नहीं चाहिए
अन्तिम सांस तक
ऊँनीदे एहसास को
बदलने दो करवटें यों ही
खरेड़ी खाट पर,
इससे मुझे तुम्हारे मर्म तक पहुंचने में मदद मिलेगी;
बहुत-सी रिक्तियां हैं
मानस-पटल पर
एक-एक करके सब इसी तरह भरेंगी ।

(2)

कोई पीड़ा अपनी-परायी नहीं होती,
पीड़ा-पीड़ा होती है;
जब से मैंने होश सम्भाला है
ज़िन्दगी में
मेरी और तुम्हारी आन्तरिक अभिव्यक्ति में
कोई फ़र्क नहीं पाया;
हर बार
क्रौञ्चीय करुणा की कोख से
एक हरहराता वाल्मीकीय श्लोक निकल आया ।
एक निश्चित् से तापमान में
गलता ही चला गया
ढलता ही चला गया
लोहे-सा मन,
अनुभव की हकीकत से गुज़रना
कोई खेल तो नहीं है ।

(3)

मन को छूने की तासीर
कहाँ से लाऊँगा
कहानी में
घाव का हरा होना जरूरी है;

इसलिए खुरच जाने दो
रीढ़ की हड्डी
नुकीली चट्टानों से,
शर-शैय्या पर लेटा
भीष्म-सा आहत अस्तित्व
कुरुक्षेत्रीय कौलाहल को पी जाना चाहता है
मौन
किसी के स्वर में स्वर मिलाकर गाना
मुझे अच्छा नहीं लगता।

★

बुद्ध प्रश्न

—डॉ. सुरेन्द्र भटनागर

सेमल के पेड़ के ऊपर बैठा हुआ गिद्ध
खींचता है हड्डियों से मांस।
और पीपल के पेड़ के नीचे
बैठा हुआ बुद्ध
सींचता है
आदमी का जीवन में विश्वास।

★

प्रिन्टेड मैटर

सेवा में

....

....

....

मुद्रक, प्रकाशक, स्वामी बी. एस. सहवाल की ओर से अरावली प्रिंटिंग प्रेस झलकारी नगर, अजमेर में मुद्रित तथा सम्मादिट्ठि, 2117/43, धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर से प्रकाशित। दूरभाष : 0145-2660739

—सम्पादक—बी. एस. सहवाल

दूरभाष : (0145) 660739

मध्यमा प्रतिपदा

शोध, साहित्य एवं समाज-सुधार के क्षेत्र में वैज्ञानिक सोच की पत्रिका

वर्ष: 1　　अंक : 6　　जुलाई 1999

सम्पादक

बी. एस. सहवाल

●

परामर्श

डॉ. चमन लाल रैना

●

फाउण्डेशन ऑफ इण्डोलोजी एण्ड कल्चर, अजमेर के सौजन्य से प्रकाशित

इस अंक में-

पृष्ठ सं

(क) सम्पादकीय

1. सम्पादक की कलम से 1-5

(ख) विचार एवं नवीन शोध

2. भारतीय वर्ण-व्यवस्था : एक पुर्नविचार

—धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल 9-17

3. गालिब—'ए ! दिले नादाँ !'

—डां. चमनलाल रैणा 18-19

4. कश्मीर की ज्ञान योगनियां

—पं. जगन्नाथ सिब्बू 20-21

(ग) सृजन के क्षण

5. ज़िन्दगी : मौत से गुजरने की प्रक्रिया (कविता)

—धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल 22

6. न जाने क्यों ? (कविता)

—आकाश सूर्य वंशी 23

(घ) पुस्तक-समीक्षा —मञ्जु श्री 24-25

(ङ.) कुछ खास खबरें —कवर पृष्ठ

द फाउण्डेशन ऑफ इण्डोलोजी एण्ड कल्चर, अजमेर
(भारत विद्या एवं संस्कृति प्रतिष्ठान)

विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के प्रति प्रतिबद्धत तथा मानवीय मूल्यों के धरातल पर नवीन समाज की संरचना—बस यही मू मंत्र है फाउण्डेशन का।

धम्मप्रिय बी. एस. सहवा
संरक्षक एवं अध्य

मध्यमा प्रतिपदा (द्विमासिक)

सहयोग राशि : 55.00 रु. वार्षिक, 300.00 रु. दस वर्षीय

मनीआर्डर अथवा चैक द्वारा, जो अजमेर स्थित किसी भी बैंक में भुगता योग्य हो, भँवरसिंह सहवाल के नाम से सहयोग राशि 43/2117, सम्मादिट्ठि धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर के पते पर भिजवायें।

विशेष : इस पत्रिका में छपे लेखकों के विचारों से सम्पादक या प्रकाशक क सहमत होना आवश्यक नहीं है।

सम्पादक की क़लम से

कश्मीर का दर्द :

कश्मीर में पाकिस्तानी घुस-पैंठ की समस्या आज की नहीं है—पुरानी है। उसकी चोंट पुरानी है, उसका दर्द पुराना है। भारत के अंग्रेजों से स्वतंत्र होने तथा जम्मू-कश्मीर के भारत में कानूनी रूप से विलय के बांद ही पाकिस्तान की मदद से क़बाइली मुजा़हिदीन ने भरपूर आक्रमण कर कश्मीर के एक बहुत बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया जिसे उन्होंने 'आज़ाद कश्मीर' का नाम दे दिया।

यह समस्या उसी समय हल हो जाती यदि प्रधान मंत्री नेहरू इस मामले में चुप रहते और भारत के तत्कालीन गृह मंत्री लोहपुरुष वल्लभ भाई पटेल को अपना काम करने देते। न जाने किस कमजोरी अथवा उदारता के कारण नेहरूजी ने जम्मू-कश्मीर में घुस आये कबाइली मुजा़हिदीन को सीमा के पार खदेड़ने की अनुमति नहीं दी और इस मामले को लेकर सीधे संयुक्त राष्ट्र संघ में गुहार करने चले गये। संयुक्त राष्ट्र संघ में नेहरूजी ने मौके पर युद्ध-विराम के साथ ही जम्मू-कश्मीर में पाकिस्तानी जनमत-संग्रह की माँग स्वीकार कर ली और जम्मू-कश्मीर राज्य की कानूनी स्थिति पर एक प्रश्न-चिह्न लगवा कर वे खाली हाथ घर लौट आये। मौके पर हमारी फौजें अपनी बन्दूकों को हाथ में उठाये जहाँ-की-तहाँ ठहर गयीं। पाकिस्तान द्वारा बलात् हथियाये गये कश्मीर तथा शेष जम्मू-कश्मीर राज्य के बीच नियंत्रण रेखा खिंच गयी।

यहां तक तो गनीमत थी। पर कश्मीर के बहुसंख्यक मुसलमानों के इस भय से कि कहीं वे जन-मत-संग्रह के समय भारत से अलग होने का विनिश्चय प्रकट न कर दें, उन्हें खुश रखने के लिए भारतीय संविधान में अनुच्छेद 370 का प्रावधान कर दिया गया और सम्पूर्ण जम्मू-कश्मीर प्रदेश को एक विशेष राज्य का दर्जा दे दिया गया। उसके ऊपर तुर्रा यह कि शेष भारत का कोई भी नागरिक वहां भूमि खरीद कर या मकान बना कर स्थायी रूप से नहीं रह सकता। इस सबका उल्टा ही असर हुआ। इन प्रावधानों से पाकिस्तान को बहुत बल मिला। पाकिस्तान ने योजनाबद्ध तरीके से कश्मीर के सम्पूर्ण जलवायु में साम्प्रदायिकता के विषाणु घोलने शुरू कर दिये। कश्मीर घाटी में इस काम के लिए अनेक संगठन खड़े कर दिये। 1965 के भारत-पाक युद्ध के बाद से तो इन साम्प्रदायिक विषाणुओं ने तीव्र गति से हवा में घुलना शुरू कर दिया। सन् 1975 से 1990 के मध्य ऐसे अनेक मुस्लिम गीतों लोक-गीतों की रचना हुई जिनमें भारत, भारत के राष्ट्रीय ध्वज, भारत के संविधान, भारत-वासियों एवं भारतीयता के विरुद्ध भयंकर घृणा के भाव उभारे गये। आम सड़कों पर जुलूसों में समवेत् स्वर में 'बटन हिन्द ब्योल, खुदायस गोल' (अर्थात् काफिरों का बीज खुदा ने समाप्त कर दिया) जैसे गीत गाये जाने लगे। सर्वत्र उन्मादी आतंक पैदा हो गया। धीरे-धीरे

इस अंक में-

पृष्ठ सं

(क) सम्पादकीय

1. सम्पादक की कलम से 1-5

(ख) विचार एवं नवीन शोध

2. भारतीय वर्ण-व्यवस्था : एक पुर्नविचार
—धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल 9-17

3. गालिब—'ए ! दिले नादॉं !'
—डॉ. चमनलाल रैणा 18-19

4. कश्मीर की ज्ञान योगनियां
—पं. जगन्नाथ सिब्बू 20-21

(ग) सृजन के क्षण

5. जिन्दगी : मौत से गुजरने की प्रक्रिया (कविता)
—धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल 22

6. न जाने क्यों ? (कविता)
—आकाश सूर्य वंशी 23

(घ) पुस्तक-समीक्षा —मञ्जु श्री 24-25

(ड.) कुछ खास खबरें —कवर पृष्ठ

द फाउण्डेशन ऑफ इण्डोलोजी एण्ड कल्चर, अजमेर
(भारत विद्या एवं संस्कृति प्रतिष्ठान)

विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के प्रति प्रतिबद्धत तथा मानवीय मूल्यों के धरातल पर नवीन समाज की संरचना—बस यही मू मंत्र है फाउण्डेशन का।

धम्मप्रिय बी. एस. सहवा
संरक्षक एवं अध्य

मध्यमा प्रतिपदा (द्विमासिक)

सहयोग राशि : 55.00 रु. वार्षिक, 300.00 रु. दस वर्षीय

मनीआर्डर अथवा चैक द्वारा, जो अजमेर स्थित किसी भी बैंक में भुगता योग्य हो, भँवरसिंह सहवाल के नाम से सहयोग राशि 43/2117, सम्मादिट्ठि धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर के पते पर भिजवायें।

विशेष : इस पत्रिका में छपे लेखकों के विचारों से सम्पादक या प्रकाशक क सहमत होना आवश्यक नहीं है।

सम्पादक की क़लम से

कश्मीर का दर्द :

कश्मीर में पाकिस्तानी घुस-पैंठ की समस्या आज की नहीं है—पुरानी है। उसकी चोंट पुरानी है, उसका दर्द पुराना है। भारत के अंग्रेजों से स्वतंत्र होने तथा जम्मू-कश्मीर के भारत में कानूनी रूप से विलय के बांद ही पाकिस्तान की मदद से क़बाइली मुज़ाहिदीन ने भरपूर आक्रमण कर कश्मीर के एक बहुत बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया जिसे उन्होंने 'आज़ाद कश्मीर' का नाम दे दिया।

यह समस्या उसी समय हल हो जाती यदि प्रधान मंत्री नेहरू इस मामले में चुप रहते और भारत के तत्कालीन गृह मंत्री लोहपुरुष वल्लभ भाई पटेल को अपना काम करने देते। न जाने किस कमजोरी अथवा उदारता के कारण नेहरूजी ने जम्मू-कश्मीर में घुस आये कबाइली मुज़ाहिदीन को सीमा के पार खदेड़ने की अनुमति नहीं दी और इस मामले को लेकर सीधे संयुक्त राष्ट्र संघ में गुहार करने चले गये। संयुक्त राष्ट्र संघ में नेहरूजी ने मौके पर युद्ध-विराम के साथ ही जम्मू-कश्मीर में पाकिस्तानी जनमत-संग्रह की माँग स्वीकार कर ली और जम्मू-कश्मीर राज्य की कानूनी स्थिति पर एक प्रश्न-चिह्न लगवा कर वे खाली हाथ घर लौट आये। मौके पर हमारी फौजें अपनी बन्दूकों को हाथ में उठाये जहाँ-की-तहाँ ठहर गयीं। पाकिस्तान द्वारा बलात् हथियाये गये कश्मीर तथा शेष जम्मू-कश्मीर राज्य के बीच नियंत्रण रेखा खिंच गयी।

यहां तक तो गनीमत थी। पर कश्मीर के बहुसंख्यक मुसलमानों के इस भय से कि कहीं वे जन-मत-संग्रह के समय भारत से अलग होने का विनिश्चय प्रकट न कर दें, उन्हें खुश रखने के लिए भारतीय संविधान में अनुच्छेद 370 का प्रावधान कर दिया गया और सम्पूर्ण जम्मू-कश्मीर प्रदेश को एक विशेष राज्य का दर्जा दे दिया गया। उसके ऊपर तुर्रा यह कि शेष भारत का कोई भी नागरिक वहां भूमि खरीद कर या मकान बना कर स्थायी रूप से नहीं रह सकता। इस सबका उल्टा ही असर हुआ। इन प्रावधानों से पाकिस्तान को बहुत बल मिला। पाकिस्तान ने योजनाबद्ध तरीके से कश्मीर के सम्पूर्ण जलवायु में साम्प्रदायिकता के विषाणु घोलने शुरू कर दिये। कश्मीर घाटी में इस काम के लिए अनेक संगठन खड़े कर दिये। 1965 के भारत-पाक युद्ध के बाद से तो इन साम्प्रदायिक विषाणुओं ने तीव्र गति से हवा में घुलना शुरू कर दिया। सन् 1975 से 1990 के मध्य ऐसे अनेक मुस्लिम गीतों लोक-गीतों की रचना हुई जिनमें भारत, भारत के राष्ट्रीय ध्वज, भारत के संविधान, भारत-वासियों एवं भारतीयता के विरुद्ध भयंकर घृणा के भाव उभारे गये। आम सड़कों पर जुलूसों में समवेत् स्वर में 'बटन हिन्द ब्योल, खुदायस गोल' (अर्थात् काफिरों का बीज खुदा ने समाप्त कर दिया) जैसे गीत गाये जाने लगे। सर्वत्र उन्मादी आतंक पैदा हो गया। धीरे-धीरे

कश्मीर घाटी की प्राचीनतम अल्पसंख्यक गैर मुस्लिम जनता को मौत के घाट उतारा जाने लगा। उनमें से जो लोग किसी प्रकार बचे वे अपना घर-बार छोड़कर अन्यत्र पलायन कर गये। उनकी छूटी हुई सम्पत्तियों को मुस्लिम आतंककारियों ने या तो आग लगा दी अथवा वे उन पर कब्जा करके बैठ गये। सारा वातावरण साम्प्रदायिक रंग में रंग गया। और इस तरह पाकिस्तानी घुस-पैठियों द्वारा अपने हक में शत-प्रति-शत जनमत संग्रह की सम्भावना को पुख्ता कर लिया गया।

कश्मीर के कतिपय चिन्तनशील राष्ट्रवादी मुस्लिमों ने आतंक की छाया में चुप होकर बैठना ही उचित समझा। वे आतंकवादियों के विरुद्ध बोलने का साहस नहीं जुटा पाये।

भारत के राजनेता बदली हुई परिस्थिति में भी पाकिस्तान द्वारा अधिकृत रूप से हथियाये गये तथाकथित आजाद कश्मीर को वापस लेने के बारे में न तो कुछ बोले और न ही इस सम्बन्ध में कोई कारगर उपाय कर पाये। इसके विपरीत वे पाकिस्तान की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाते रहे। कभी शिमला समझौता करते रहे तो कभी लाहौर समझौता करते रहे और अपनी सीमाओं को उनके निर्बाध आवागमन के लिए खोलते रहे। इससे पाकिस्तान हमारे सिर पर चढ़ता-उतरता गया। उसके जासूसी एजेन्ट्स हमारे हर गांव, हर कस्बे तथा हर नगर-महानगर में फैल गये। कश्मीर में तो ऐसा और भी अधिक हुआ।

दूरदर्शिता का अभाव तथा झिझक :

भारतीय प्रशासन की यह कमजोरी देखने को मिलती है कि वह स्वतंत्र रूप से कोई भी सार्थक व ठोस निर्णय लेने से कतराता है और अपने उत्तरदायित्वों का समुचित ढंग से निर्वाह करने में झिझकता है। सत्तासीन राजनीति उस पर भयंकर रूप से हावी है। उसके द्वारा लिया गया निर्णय न जाने उल्टा पड़े या सीधा-कौन झंझट में पड़े—बस यही उसकी मनोवृत्ति रहती है। इसलिए वह सही समय पर सही कदम उठाता ही नहीं। वह जमीनी वास्तविकताओं से जहां तक सम्भव हो आंखें मूंदे रहता है और जब उसे मजबूरन आंखें खोलनी पड़ती है तो बहुत देर हो चुकी होती है। इस झिझक तथा अदूरदर्शिता का ही तो यह परिणाम है कि वह कश्मीर के मामले में मौके पर असरदार कार्यवाही न कर उसे संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गया, सम्पूर्ण जम्मू-कश्मीर में जनमत-संग्रह की अमान्य शर्त को भी मान बैठा, कश्मीर घाटी में और फिर उसके बाद जम्मू के सीमावर्ती इलाकों में राष्ट्र विरोधी हरकतों को अनदेखा करता रहा, पाकिस्तानी घुस-पैठ व विदेशी हथियारों की आवक के प्रति आंखें मूँदे रहा, वहाँ के सीधे-सादे युवकों को पाकिस्तानी शिकंजे का शिकार होने देता रहा, साम्प्रदायिक विद्वेष की आग को पूरे जम्मू-कश्मीर राज्य में फैलने देता रहा, वहां की गैर मुस्लिम निहत्थी जनता के कत्ले-आम को बरदाश्त करता रहा एवं बचे-खुचे लोगों के पलायन के प्रति असंवेदनशील बना रहा।

और अन्त में हमारी विजीलेंस तथा इन्टेलीजेंस एजेन्सियों एवं उनके उच्चाधिकारियों ने अपनी योग्यता का यह परिचय दिया कि सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कारगिल क्षेत्र में श्रीनगर-लेह राष्ट्रीय मार्ग पर मुजाहिद्दीन के रूप में पाकिस्तानी सेना के काबिज होने, ठिकाने बनाने एवं युद्ध की तैयारी करने का समय पर पता ही न चला। प्रशासनिक अदूरदर्शिता तथा शिथिल व्यवस्था का इसके सिवा और क्या प्रमाण चाहिए ?

भाषण की बीमारी और राजनेता :

वैसे तो भाषण बघारना हमारे नेताओं का राष्ट्रीय चरित्र है, पर ऊँचे मंचों पर से समय-असमय कुछ भी बोल देना उनकी विशेष खूबी है। वे चुप रह ही नहीं सकते। वाणी का वरदान प्रकृति ने मनुष्य को दिया है तो वे उसका भरपूर उपयोग या दुरुपयोग करना ही चाहेंगे। बतरस में भी एक अनिर्वचनीय आनन्द होता है। कहावत भी है बिन खाये रहा जा सकता है पर बिन बोले नहीं। लेकिन राजनेता तो न बिन खाये रह सकते हैं न बिन बोले।

हम देख चुके हैं कि कारगिल जैसे अपने ही क्षेत्र में घमासान युद्ध के दौरान सामरिक मामलों में भी हमारे जिम्मेदार शीर्षस्थ नेता कितने वाचाल हैं। वे इस घुसपैठ में पाकिस्तान सरकार का हाथ ही नहीं मानते और इसकी घोषणा ताल-ठोककर सार्वजनिक रूप से करने से भी नहीं चूकते। कारगिल क्षेत्र से पाकिस्तानी सैनिक घुसपैठियों को सुरक्षित चले जाने देने की बात भी वे कह बैठते हैं। भविष्य में उठाये जाने वाले कदमों की उद्घोषणा भी वे अगाऊ में कर देने में अपनी शान समझते हैं। ऐसी स्थिति में सीमा पर युद्धरत हमारे सैनिकों के सामने क्या कठिनाई पैदा हो सकती है—इसका किसी को ख्याल ही नहीं रहता। ऊँचे पदों पर बैठे राजनेता जब अपनी वाणी पर नियंत्रण नहीं रख सकते तो समाचार मीडिया तो ऐसे मामलों में उनके पीछे चलता है, फिर वह अपनी लेखनी पर कैसे नियंत्रण रख सकेगा ? अतः ऐसे समय में मुँह खोलते समय बहुत सावधान रहने की जरूरत है। सावधानी के अभाव में लाभ के स्थान पर हानि होने की ही अधिक सम्भावनाएँ रहती हैं।

हमारे राजनेता विश्व-मत को अपने पक्ष में बनाये रखने की ज्यादा ही चिन्ता करते हैं—ठीक है। परन्तु इससे दुश्मन को सम्भलने के लिए काफी समय मिल जाता है और वह अपनी स्थिति और भी मजबूत कर लेता है। कूटनीति और रणनीति में अन्तर होता है। कूटनीति के पीछे रणनीति में ढील देना उचित नहीं है।

राजनीति बनाम राजनेताओं की नीति :

उधर कारगिल क्षेत्र में कठिन युद्ध चल रहा है, हमारे सैनिक भारी संख्या में हताहत हो रहे हैं, मर रहे हैं, अपनी इंच-इंच भूमि छुड़ाने के लिए उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ रही है और इधर देश के बड़बोले राजनेता कारगिल को आगामी

संसदीय चुनावों का मुद्दा बनाने की फिराक में है। इस युद्ध में काम आये सैनिकों तथा सैनिक-अधिकारियों की, उसमें फुँक रहे जन-धन की एवं उससे उत्पन्न कठिनाइयों की उन्हें कोई चिन्ता नहीं है। वे तो हमारे रक्षक सैनिकों की मौत के भी टके बनाने की युक्तियां सोच रहे हैं। लगता है देश की राजनीति सड़ गयी है और उसकी सडांध से सारा वातावरण भर गया है जिसमें नैतिकता का गला घुट गया है, सम्यक् सोच का पौधा मुरझा गया है। युद्ध में किसी का बेटा मरा, किसी का भाई मरा, किसी का पति मरा। पर राजनेताओं के स्वयं के परिवारों का क्या मरा? देश की सामान्य जनता पर आर्थिक भार पड़ा, राजनेताओं तथा उनसे सम्वन्धित धनिकों पर क्या भार पड़ा? इनमें से अधिकांश के भाई,बेटे,भतीजे तो रात्रिकालीन बारों, नृत्य-घरों तथा सितारा होटलों में रंगरेलियों में ही मस्त हैं, आर्थिक अपराध एवं अन्यान्य दुष्कृत्यों में ही लिप्त हैं—कहीं चौड़े, कहीं छिपे।

यद्यपि जीवन की क्षतिपूर्ति दुनिया की किसी भी कीमती वस्तु से नहीं की जा सकती तथापि लड़ाई में शहीद हुए सैनिकों—सैनिक अधिकारियों के परिवारों को सहायतार्थ राजकोष से धनराशि दी जा रही है तथा उन्हें कृषि योग्य सरकारी भूमि आवंटन करने और उनके किसी एक सदस्य को नौकरी में लेने की बात की जा रही है। किन्तु शासन में बैठे राजनेता अपनी जेब से क्या दे रहे हैं? यदि वे एक महीने का वेतन भी दे रहें हैं तो गैर तरीकों से धानिक बने ऐसे राजनेताओं की शैहत पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? एक मां अपने हुतात्मा बेटे पर और विधवा अपने शहीद पति के वलिदान पर गर्व तो कर सकती है पर उनकी कमी क्या जिन्दगी भर उन्हें खलती नहीं रहेगी? वस्तुतः जिस पर गुजरती है वही जनता है। स्वार्थी राजनेताओं को क्या फर्क पड़ता है! वे तो बड़ी बड़ी शोक सभाओं तथा श्रद्धांजलियों का आयोजन करके भी लोकप्रियता कमा लेने की जुगाड़ में रहते हैं। जले हुए घरों की आग में अपनी रोटियां सेंकना उन्हें अच्छा लगता है। तो फिर क्या करें?

सहानुभूति नहीं, समानुभूति :

अंगुली में लगती है तो खून निकलता है। अतः यह अनिवार्य किया जाना चाहिए कि प्रत्येक राजनेता के परिवार का कम-से कम एक सदस्य—भाई अथवा बेटा—सशत्र सेना में शामिल हो और उसे सीमा पर भेजा जाय। तभी उन्हें पता चलेगा कि भाषण देने में और अपने स्वजन-प्रियजन के युद्ध में लड़ते हुए मारे जाने के दर्द की अनुभूति में क्या फर्क होता है। सच में, इस प्रकार की मृत्यु से सहानुभूति नहीं बल्कि समानुभूति पैदा होती है जिसमें गम्भीरता तो होती है, वाचालता नहीं। अन्य शासकों तथा प्रशासकों के परिवारों से भी एक-एक सदस्य अनिवार्य रूप से फौज में भर्ती किया जाना चाहिए। देश के प्रत्येक युवक-युवती को बिना

किसी भेद-भाव के सैनिक अथवा अर्द्ध सैनिक प्रशिक्षण दिये जाने का प्रावधान किया जाना चाहिए अकादमिक शिक्षा के साथ-साथ तथा उसके पूर्ण होने के पश्चात् कम-से-कम एक वर्ष का इस प्रकार का सघन प्रशिक्षण स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में अनिवार्य कर दिया जावे ताकि उन्हें फौज में भर्ती करते समय अथवा आवश्यकता पड़ने में उनका उपयोग करते समय किसी प्रकार की कठिनाई पैदा न हो। इस कार्य के लिए राष्ट्रीय केडेट कोर जैसी संस्थाएं पूर्व से ही कार्यरत हैं। उसके प्रावधान हर युवा शिक्षार्थी पर लागू करने तथा सिविल डिफेन्स को पुख्ता अन्जाम देने की जरूरत है।

जनता की भागीदारी :

युद्ध हो या प्राकृतिक आपदा—उसकी मार तो जनता पर ही पड़ती है—उसका भार तो जनता को ही झेलना पड़ता है। अतः युद्ध की ऐसी स्थिति में जब हमारे नौजवान अपनी ही भूमि को मुक्त कराने के लिए दुर्गम पर्वतीय घाटियों तथा ऊँचाइयों पर लड़ रहे हैं और अपने प्राण उत्सर्ग कर रहे हैं तो उनका मनोबल बढ़ाने तथा उनकी सहायतार्थ जनता को भी आगे आना होगा। इसके लिए मंचों पर ऊँचे स्वरों में व्यक्तव्य देने अथवा कविता पढ़ने की अधिक आवश्यकता नहीं हैं, बल्कि यथाशक्ति धन तथा रक्त देने की जरूरत है। जब-जब भी संकट की घड़ी आई है भारतीय जनता ने उसका माकूल उत्तर दिया है और आज भी जी खोलकर वह अपना योगदान कर रही है।

किन्तु हमारे मठाधीशों को क्या हो गया है? उनके पास तो अपार भण्डार है धन का, स्वर्ण का, सम्पत्ति का जिसे भारत के लोगों ने धर्म के नाम पर उनके मन्दिरों, मूर्तियों, ड्यौढ़ियों पर चढ़ाया है। वे विना परिश्रम के ही भारत के अन्यतम धनाड्य व्यक्ति हैं और राजा-महाराजों की तरह वैभवशाली जीवन जी रहे हैं। जब भारत का एक गरीब मजदूर, जो रोज कुआ खोदता है और रोज पानी पीता है, अपने पसीने की कमाई इस संकट-काल में उत्सर्ग कर रहा है तो क्या महामहिम मठाधीश अपनी बिन कमायी, भूगर्भी तहखाने में पड़ी विपुल धनराशि को देश-हित में उत्सर्ग नहीं कर सकते? क्या धर्म-भीरु जनता से उन्होंने लेना-ही-लेना सीखा है? राष्ट्रीय संकट-काल में धनोत्सर्ग करने का प्रावधान क्या उनके धर्म-ग्रंथों में नहीं है? क्या राष्ट्र-धर्म धर्म नहीं है? उनको तो थाई-देश के उस बौद्ध-भिक्षु को अपना आदर्श मानकर अनुसरण करना चाहिए जिसने अपने देश में उत्पन्न आर्थिक-संकट के समय वहाँ के केन्द्रीय बैंक आफ थाईलैण्ड को सोने की कुल 83 छड़ियाँ सहायतार्थ भेंट कर दीं जो उसे जन-सामान्य से प्राप्त हुई थीं। यह उदाहरण पुराना नहीं है, गत मई, 1999 की ही बात है।

——

भारतीय वर्ण-व्यवस्था : एक पुनर्विचार

—धम्मप्रिय बी.एस. सहवाल

(गतांक से आगे)

आनुवंशिकता तथा पर्यावरण का प्रश्न :

वर्णजन्य जाति-व्यवस्था के पक्ष में कुछ लोगों द्वारा आनुवंशिकता तथा पर्यावरण का प्रश्न उछाल दिया जाता है। यह सही है कि आनुवंशिकता अथवा वंशानुक्रम (Heredity), जिसे प्रकृति (Nature) भी कहा जाता है, के कारण मनुष्य अपने माता-पिता के पित्र्य-सूत्रों के योग की उपज है। इसी योग से बच्चों का लिंग, रंग तथा अंगों की बनावट एवं नाक-नक्श का निर्धारण होता है। पित्र्य-सूत्र में सन्निहित जीन्स द्वारा मनुष्य अपने पूर्वजों के गुण अथवा दोष ग्रहण करता है। सहज प्रवृत्ति (Instinct) एक आनुवंशिक मनोवैज्ञानिक विशेषता है। जीन्स में सहज प्रवृत्तिजन्य व्यवहारों को निर्धारित एवं नियंत्रित करने की विलक्षण क्षमता होती है। ये जीन्स ही व्यक्तिगत विभिन्नताओं के जनक हैं। किंतु वंशानुक्रम से जो शारीरिक गुण अथवा मानसिक विशेषताएँ बच्चे ने प्राप्त की हैं उनके समुचित विकास अथवा बदलाव में पर्यावरण अथवा पोषण (Environment or Nurture) का विशेष योगदान होता है। यद्यपि किसी गुण विशेष के निर्माण में वातावरण (पर्यावरण) अथवा वंश में से किसी एक का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव देखा गया है तथापि वंश तथा पर्यावरण की परस्पर अन्त: प्रक्रिया का प्रतिफल ही व्यक्तित्व है। जीवन के आदि से अन्त तक यह प्रक्रिया चलती रहती है। कुछ गुणों अथवा प्रवृत्तियों को मनुष्य वंशानुक्रम से ग्रहण करता है तो उनके समुचित विकास के लिए अनुकूल पर्यावरण का होना भी जरूरी है। यदि अनुकूल पर्यावरण न मिले तो इन प्रवृत्तियों या गुणों का विकास नहीं हो सकता और ये निरर्थक हो जायेंगे।

इस सम्बन्ध में यह उदाहरण दिया जाता है कि खाती का बेटा अच्छा खाती बनेगा क्योंकि जन्म से ही वह उस पर्यावरण में पलता है जिसमें खाती का काम किया जाता है, जिसे सीखने में उसे विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। इसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लड़कों को अपने-अपने पर्यावरण में रहने से क्रमशः विद्यार्जन, शस्त्र-संचालन तथा वाणिज्य-कौशल सीखने में आसानी रहती है और वे इनमें जल्दी ही दक्ष हो जाते हैं। यह बात शूद्र के बच्चों के लिए भी कही जाती है कि वह सेवा के पर्यावरण में रहकर अच्छे सेवक के गुण विकसित कर सकेगा। यह ठीक है कि जिस पर्यावरण में बच्चा पलेगा तथा रहेगा उसी के संस्कार उस पर पड़ेंगे। किन्तु यह सोच वस्तुत: वंशानुक्रम एवं पर्यावरण अथवा प्रकृति एवं पोषण को ठीक से न समझ पाने का परिणाम है। प्रकृति एक गरीब के बच्चे को भी सीखने की सहज प्रवृत्ति देती है। अनुकूल पर्यावरण मिलने पर उसका बच्चा भी विद्यार्जन कर पारंगत हो सकता है। शारीरिक व मानसिक गुण वितरण में प्रकृति किसी वर्णगत जाति विशेष के साथ भेदभाव नहीं करती। यह वर्णगत जाति

मनुष्य की अपनी उपज है, प्रकृति की नहीं। तभी तो ब्राह्मणों ने शस्त्र-संचालन के पर्यावरण में प्रवेश कर शस्त्र-संचालन सीखा और अवसर मिलने पर स्वयं शासक भी बन बैठे। इतिहास इसके अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। और ऐसे भी अनेक उदाहरण मिल जायेंगे जिनमें क्षत्रियों ने ब्रह्म-विद्या अर्जित कर ब्राह्मणत्व अथवा सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त किया। इस सम्बन्ध में विश्वामित्र तथा राजा जनक का उल्लेख हम पूर्व में ही चुके हैं। महात्मा गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी तो इसके अन्यतम एवं श्रेष्ठतम उदाहरण हैं ही। कर्मगत वर्ण-व्यवस्थता का यही आधार था। कर्म करने की प्रवृत्ति तथा क्षमता हर मनुष्य में है जो वह प्रकृति अथवा आनुवंशिकता से प्राप्त करता है। किन्तु उसे विकसित करना तथा उसमें दक्षता प्राप्त करना विशेष पर्यावरण में ही सम्भव है।

काम अथवा क्रोध की सहज प्रवृत्ति प्रकृति सभी मनुष्यों को देती है। विशेष पर्यावरणों में रहने से वही प्रवृत्ति लम्पटता अथवा युयुत्सा में विकसित हो सकती है या फिर ब्रह्मचर्य एवं शान्त-स्वभाव में परिवर्तित हो सकती है। फिर बाप-बेटों की प्रकृति अथवा स्वभाव में पर्याप्त भिन्नता एवं विरोध भी देखने को मिलते हैं। हाँ, आनुवंशिकता से प्राप्त शरीर के अंगों की बनावट नाक-नक्श आदि तो नहीं बदलते किन्तु सहज प्रवृत्तियाँ अथवा प्रवृत्तिजन्य व्यवहार विशेष पर्यावरण या पोषण के कारण अवश्य विकृत अथवा परिवर्तित हो जाते हैं। अपने पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण में रह कर अन्य गुण तथा विशेषताएँ तो मनुष्य स्वतः अर्जित करता है। आज जब बिना भेद-भाव के मनुष्य को समान अवसर तथा अनुकूल पर्यावरण में रहने की सुविधाएँ जुटायी जा रहीं हैं तो उसके उत्साहपूर्ण परिणाम भी सामने आ रहे हैं। अध्ययन-अध्यापन, शासन तथा वाणिज्य के क्षेत्र में शूद्र तथा हीन समझी जाने वाली जातियों के व्यक्तियों ने कीर्तिमान स्थापित करने शुरु कर दिये हैं और किये हैं। बाबा भीमराव अम्बेडर इसके शीर्ष उदाहरण हैं। और भी अनगिनत प्रतिभाएँ विकसित हुईं हैं, हो रही हैं। अतः वर्ण-व्यवस्थागत जातियों के पक्ष में दिये गये सारे तर्क अपने-आप में लचर हैं तथा पूर्वाग्रह से ग्रसित हैं।

श्रम-विभाजन तथा वर्ण-व्यवस्था :

अक्सर यह कहा जाता है कि वर्ण-व्यवस्था और कुछ नहीं, केवल समाज में श्रम का विभाजन है। यह ठीक नहीं है। श्रम-विभाजन का सम्बन्ध सामाजिक क्षेत्र से न होकर किसी कारखाने, फैक्टरी या औद्योगिक क्षेत्र से है। समाज कोई उद्योग अथवा फैक्टरी नहीं है। अतः श्रम-विभाजन का सिद्धान्त उस पर लागू नहीं होता। वस्तुतः उत्पादन और निर्माण कार्य के लिए कुशल, अर्द्ध कुशल तथा अकुशल श्रमिकों की जरूरत पड़ती है। सभी श्रमिक सभी काम व्यवस्थित ढंग से एक समय में नहीं कर सकते। अतः समग्र निर्माण अथवा उत्पादन प्रक्रिया को छोटे-छोटे

कार्य-खण्डों में विभाजित कर उन्हें श्रमिकों की दक्ष इकाइयों में बांट दिया जाता है। एक किस्म का काम एक इकाई अथवा विभाग में, दूसरी किस्म का काम दूसरी इकाई या प्रखण्ड में और इसी प्रकार अन्य काम अन्य शेष इकाइयों में बंट जाने से उत्पादन में गति तथा व्यवस्था आ जाती है और उसकी मात्रा एव गुणवत्ता बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए रेल के डिब्बों के निर्माण को लिया जा सकता है। रेल के डिब्बों के पहियों को ढ़ालने का काम ढ़लाई में दक्ष श्रमिक इकाई अथवा प्रखण्ड को दिया जाता है। यह प्रखण्ड केवल पहियों की ढ़लाई का ही काम कर पहिये तैयार करता है। रेल के डिब्बे का लकड़ी का ढ़ांचा तैयार करने का काम सुथारी में कुशल श्रमिक काष्ठकारों के दल को सौंपा जाता है। रेल के डिब्बे के अन्य हिस्सों (Parts) को बनाने का काम अन्य होशियार श्रमिक वर्ग को दिया जाता है। इस प्रकार सभी तैयार शुदा हिस्सों को यथा स्थान जोड़ कर रेल का डिब्बा तैयार किया जाता है और अन्त में रंगसाजी में कुशल श्रमिकों की प्रखण्ड-इकाई उसे पेन्ट कर देती है। श्रमिकों में इस प्रकार कार्य-विभाजन को श्रम-विभाजन की संज्ञा प्रदान की जाती है।

वर्ण-व्यवस्था को श्रम-विभाजन का नाम देने के पीछे कुछ लोगों की कौनसी मनोवृत्ति काम कर रही है—कुछ कहा नहीं जा सकता। परन्तु इतना अवश्य है कि यह मनोवृत्ति किसी-न-किसी दोष-भावना अथवा कमजोरी से ग्रस्त है और आक्रमण से आशंकित है। वस्तुत: प्रतिरक्षा स्वरूप लोगों ने चारों ही वर्णों के कर्म को श्रम मान लिया है। ऐसा मान लेने से वैदिक ब्राह्मण ऋषिगण, क्षत्रिय राजन्यगण और वैश्य नियोजकगण भी शूद्र सेवकों के साथ-साथ श्रमिकों की श्रेणी में आ जायेंगे जो उन्हें कतई स्वीकार्य नहीं होगा। सच में ब्राह्मण वर्ण के अध्ययन-अध्यापन और ब्रह्म-विद्या को श्रम के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता। मानसिक श्रम प्रवन्धन का आवश्यक अंग तो हो सकता है और है, किन्तु शारीरिक श्रम तथा हाथ से की जाने वाली सेवा में पसीने की गन्ध होती है और वस्तुत: वही श्रम कहा जाता है। मानसिक श्रम श्रम की परिभाषा में नहीं आता। इसी प्रकार क्षत्रिय अथवा राजन्य वर्ण का कर्म श्रम नहीं है, वह तो उनका निर्धारित किया गया कर्त्तव्य है जिसके साथ अधिकार-सत्ता को भी जोड़ दिया गया हैं। श्रम अथवा परिश्रम तो हमारी संस्कृति में प्रारम्भ से ही हेय और तिरस्कृत माना गया है। हमने ऊर्जा व निर्माण की शक्ति वाले श्रम की पूजा नहीं की वल्कि निष्क्रिय पत्थरों के भगवानों की पूजा की है और मंदिरों के निठल्ले व पेटू पुजारियों को पर्याप्त सम्मान व सत्कार दिया है। दुनिया के जिन देशों ने श्रम की पूजा की उन्होंने विकास की उच्चाइयों को छू लिया और यह देश उसके अभाव में उनसे काफी पिछड़ गया।

यह आश्चर्य एवं दु:ख की वात है कि इस देश में जो लोग खेतों में परिश्रम कर अनाज उगाते हैं वे ही भूखे रहे, जो भवन-निर्माण करते हैं वे ही आश्रय हीन

हैं, जो कपड़ा तैयार करते हैं वे ही नंगे रहे हैं। ऐसी स्थिति में वे अपना तथा अपने परिवार का क्या उत्थान कर सकते थे, कर सकते हैं, कर सकेंगे ? आज के प्रजातांत्रिक कल्याणकारी राज्य के रूप में उद्घोषित भारत में गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों को आर्थिक दृष्टि से ऊपर उठाने की बात कही जाती है। पहले तो गरीबी ही अभिशाप है दूसरे उसकी भी रेखा से नीचे की स्थिति लोगों को जीवित कैसे रहने देती होगी-इसका अन्दाज लगाना मुश्किल है। ये गरीब तथा गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोग और कोई नहीं बल्कि वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र वर्णीय जातियों के लोग ही हैं जो सदियों से उपेक्षित होते चले आये हैं, आज भी हो रहे हैं। वस्तुत: श्रम तथा बलात् श्रम करना इसी शूद्र वर्ण के लिए निर्धारित किया गया था और उसे सेवा का नाम दिया गया। ये खेतों में धूप में काम करने वाले, ये फैक्टरियों में पिसने वाले, ये सड़कों पर ठेला खींचने अथवा पाँव-रिक्शा चलाने वाले, ये हाथ का काम करने वाले श्रमिक कोई और नहीं है, शूद्र वर्ण अथवा शूद्र वर्णीय जाति के गरीब ही हैं। वस्तुत: वर्ण-व्यवस्था में अन्तिम शूद्र वर्ण की जातियाँ ही श्रमिक की परिभाषा में आती हैं। और उनके लिए निर्धारित किया गया कर्म ही श्रम के अन्तर्गत आता है। यह कर्म अथवा श्रम अन्य वर्णों के वश की बात नहीं थी। अत: श्रम का विभाजन इसी शूद्र वर्ण की जाति-उपजातियों में हुआ जिसे वे आज तक निभाती चली आ रही हैं।

शूद्र वर्ण में इस श्रम-विभाजन के तहत मिले काम को उसकी एक उपजाति आज तक जिस प्रकार अपने सीने से लगाये बैठी है इसका उदाहरण मैं एक घटना से देना चाहूंगा। सन् 1970 जून के महीने का एक दिन; शाम का समय; स्थान दिल्ली। मैं अपने एक मित्र के साथ एक सांसद महोदय, जो पूर्व में केन्द्र सरकार के कबीना मंत्री भी रह चुके थे, से उनके राजकीय आवास पर मिलने गया हुआ था। सांसद महोदय घर पर नहीं थे। मालूम पड़ा—थोड़ी देर में ही वे आने वाले हैं। अत: इन्तजार में हम उनके आवासीय परिसर के लॉन में हरी-हरी घास पर बैठ गये और बातों में व्यस्त हो गये। तभी नारे लगाते हुए प्रदर्शनकारियों के एक जुलूस ने लॉन में प्रवेश किया। हम उठ खड़े हुए। प्रदर्शनकारियों के हाथों में झाड़ू थीं। पता चला कि वे महानगर निगम के सफाई कर्मचारी हैं और अपने भत्तो, वर्दियों तथा सफाई करने हेतु झाड़ुओं की संख्या बढ़ाने की माँग कर रहे हैं। मुझसे नहीं रहा गया। उनके नेता से उलझ पड़ा। उन्हें समझाने लगा। पर उनके एक न लगी। वे और भी जोर से नारे लगाने लगे। इतने में सांसद महोदय आ गये। उन्होंने प्रदर्शनकारियों की बात सुनी और उनका ज्ञापन ले लिया तथा हर सम्भव मदद का आश्वासन देकर अन्दर चले गये। प्रदर्शनकारी भी सांसद महोदय के हक में जिन्दाबाद के नारों के साथ बाहर चले गये।

मुझे लगा—इस आधुनिक वैज्ञानिक प्रजातांत्रिक युग में भी भारतीय समाज में एक जाति ऐसी है जो हाथों में झाड़ू उठाती है, शहर का मैला साफ़ करती है, गलियों की गन्दगी हटाती है और उसके लिए दो-दो नहीं चार-चार छह-छह झाडुओं की माँग करती है। मैंने सोचा – जिस जाति को आज के युग में दो झाडुओं को भी छोड़ देना चाहिए था और सम्मान-जनक कोई और काम अपना लेना चाहिए था वही जाति और उसके नेता अधिक झाडुओं और सफाई-सुविधाओं की माँग कर रहे हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि वर्ण-व्यवस्था के तहत शूद्र वर्ण की इस जाति को मैला-सफाई का जो काम सदियों पूर्व प्रागैतिहासिक काल में बलात् सौंपा गया था उसे वह आज भी ज्यों-का-त्यों पकड़े हुए है—छोड़ने को तैयार ही नहीं। यह जाति कुछ वर्षों पूर्व और ग्रामों में आज भी श्मशान में मुर्दे के शरीर पर से उतारे हुए कपड़ों का इस्तेमाल करती चली आई है, आज भी पंगतों की पत्तलों में से बची हुई झूठन बटोरती है, आज भी इस जाति की औरतें घरों, गलियों की सफाई करने के बदले रोटियों के टुकड़े ले जाती हैं। वर्ण-व्यवस्था के तहत जातिगत-श्रम तथा श्रमिकों की यह दशा है। क्या इसी दशा से प्रेरित होकर वर्ण-व्यवस्था को श्रम-विभाजन बताया जाता है? सच्चाई तो यह है कि प्रारम्भ से ही शारीरिक श्रम अथवा हाथ का काम (Labour) शूद्र वर्णीय जाति के लोगों के हिस्से में रखा गया है, तथाकथित उच्च वर्णीय लोगों के हिस्से में नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण की जाति के लोगों का श्रम से कोई सम्बंध नहीं रहा है। सम्पूर्ण समाज को उत्पादन हेतु यदि कार्यशाला (Factory) भी मान लिया जाय तो भी इन तीनों उच्च वर्णीय जाति के लोगों को प्रबन्धक की श्रेणी में रखा जा सकता है, श्रमिकों की श्रेणी में कदापि नहीं। हाँ, मजबूरी वश आज के युग में इसके कुछ अपवाद बड़े शहरों में देखे जा सकते हैं। अत: इनके हक में श्रम-विभाजन के सिद्धान्त की बात करना न तो तर्क संगत है और न औचित्यपूर्ण।

वर्ण और जाति में अन्तर—

वर्ग और जाति समानार्थक शब्द नहीं हैं। इनमें पर्याप्त अन्तर है। पहला अन्तर तो यही है कि वर्ण चार हैं जबकि जातियां सैकड़ों हैं। दूसरे इन जातियों में भी कितनी ही जातियां ऐसी हैं जिन्हें किस वर्ण में रखा जाय—यह निश्चित् रूप से नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए जाट अपने-आप को वैश्य नहीं मानते जब कि वैश्य वर्ण के लिए निर्धारित कर्म—कृषि उनका कार्य है। इसी प्रकार माली, कोली तथा मुरई आदि जातियों का सम्बंध मूलतः कृषि से है लेकिन वे वैश्य नहीं मानी जाती।

वर्ण का मूल आधार जन्म नहीं है जबकि जाति का मूल आधार जन्म है। वस्तुत: जाति शब्द का अर्थ ही जन्म है। इस प्रकार जो व्यक्ति जिस वंश अथवा कबीले में वंशानुक्रम से जन्म लेता है वही उसकी जाति है। जाति मनुष्य के जन्म

के साथ ही पैदा हो गयी थी, वर्ग बहुत बाद का आविष्कार है। जातियों से वर्ण बनने का क्रम तो समझ में आता है परन्तु वर्णों से जाति बनने का क्रम समझ में नहीं आता। अतः वर्णों से जो जातियां बनाई गयी हैं वे अपने मूल तथा प्रकृत अर्थ में जातियां नहीं हैं।

प्राचीन काल में जिन आर्यों ने भारत में प्रवेश कर यहां के मूल निवासियों को परास्त किया था वे विविध जनों (कबीलों) में विभक्त थे। प्रत्येक जन के सारे सदस्य एक ही पूर्वज के वंशज थे। प्रत्येक जन में हर दृष्टि से कुशल एवं बलिष्ठ व्यक्ति को नेता (राजन्) चुना जाता था जो उत्पादन की प्रणाली व वितरण को निर्देशित करता था। ये ही विविध जन सुसंगठित होकर किसी प्रदेश पर स्थिर रूप से बस गये और उन्होंने अपनी बस्तियाँ (जनपद) कायम कर लीं। कालान्तर ये ही जन (कबीले) जातियों के रूप में बदल गये। मौर्य, वृज्जि, शाक्य, कोलिय, लिच्छवी,मल्ल, बुलिय आदि अनेक जन पूर्व में प्रसिद्ध तथा वैभवशाली क्षत्रिय जातियाँ थीं जिनकी शासनप्रणाली गणतन्त्रात्मक थी। इन्हीं प्राचीन क्षत्रिय गणों अथवा जातियों में सिद्धार्थ गौतम बुद्ध तथा वर्धमान महावीर स्वामी जैसे महान् धर्म-संस्थापक पैदा हुए। इस प्रकार जाति का सम्बंध वंशानुगत जन्म से है जबकि वर्ण का वंशानुगतता से कोई सम्बंध नहीं है। मुरई, कोली, माली, खत्री, रोहतगी, आदि जातियों का विकास भी प्राचीन आर्य जातियों से हुआ जो अधिकतर मूल आदि-वासी लोगों के सम्पर्क में आती हुई तथा जहाँ सम्भव हुआ उनसे सम्बन्ध स्थापित करती हुई भारत के शीर्ष उत्तर से दक्षिण की ओर बढ़ती चली गयीं। इस प्रकार कहीं-कहीं उनमें रक्त-मिश्रण भी होता चला गया। प्राचीन काल में सामान्य जनता के जो लोग जिस धंधे अथवा व्यवसाय को करते थे उन्होंने भी अपने को श्रेणियों (Guilds) में संगठित कर लिया। अपने धन्धों तथा सामाजिक आचार-विचार के सम्बंध में वे स्वयं नियमों का निर्माण कर उनका पालन करते थे। समय पाकर इन व्यावसायिक श्रेणियों ने भी पृथक जातियों का रूप प्राप्त कर लिया जिन्हें चातुर्वर्ण्य के किस वर्ग में सम्मिलित किया जाय, इसका निर्धारण करने का कभी कोई प्रयास नहीं किया गया।

वर्ण मनुष्यकृत व्यवस्था है, जन्म निसर्ग की देन है। प्राचीन भारतीय शास्त्र-ग्रंथों में तथा बाद के व आधुनिक साहित्य एवं शब्द-कोशों में जहाँ भी वर्ण का अर्थ जाति और जाति का अर्थ वर्ग बताया गया है वहाँ निश्चित रूप से भूल हुई है अथवा इसे सतही स्तर पर लिया गया है। इन दोनों शब्दों तथा संस्थाओं के अर्थों को इस प्रकार घुला-मिला देने से भ्रान्ति उत्पन्न हुई है जो बौद्धिक पुष्टता का परिचायक नहीं है। वास्तव में वर्ग तथा जाति में पर्याप्त भिन्नता है। वे एक दूसरे से एकदम अलग हैं। कुछ होशियार लोगों द्वारा जानबूझ कर वर्ण के मूल आधार कर्म को व्यवहारतः नकार कर उसे जन्म-आधारित मान लिया गया और

इस प्रकार वर्ण तथा जाति में अभिन्नता स्थापित कर ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य वर्णों को उच्च जातियों का रूप दे दिया गया तथा शूद्र वर्ण को निम्न जाति का रूप देते हुए उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट दिया गया। और यही भारतीय समाज का दुर्भाग्य प्रमाणित हुआ।

वर्णगत जाति-व्यवस्था : एक अभिशाप—

प्रारम्भिक वर्ण-व्यवस्था की परिकल्पना में लचीलेपन की जो सम्भावना थी वह कुछ समय के बाद ही धूमिल हो गयी। वर्ण-व्यवस्था पहले तो अपने-आप में रूढ़ हो गयी और फिर धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था में रूपान्तरित हो गयी। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि वर्ग-व्यवस्था के प्रथम तीन वर्ण यथा—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन्हीं नामों की जातियों में परिवर्तित हो गये। अब ब्राह्मण वर्ण, वर्ण न होकर ब्राह्मण जाति हो गया, क्षत्रिय वर्ग, वर्ण न होकर क्षत्रिय जाति हो गया और वैश्य वर्ण, वर्ण न होकर वैश्य जाति हो गया। इस प्रकार उक्त तीनों वर्णों की तीन ही जातियाँ बनीं जो आज तक अक्षुण्ण चली आ रही हैं। विशेष बात हुई तो शूद्र वर्ण के साथ हुई और वह यह कि शूद्र वर्ण, वर्ण तो नहीं रहा किन्तु वह अन्य वर्गों की तरह एक ही जाति में परिवर्तित नहीं हुआ बल्कि उसकी अनेक और विभिन्न जातियाँ-उप-जातियाँ हो गयीं। वह टुकड़े-टुकड़े हो गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण अनेक-अनेक व अलग-अलग जातियों में विघटित नहीं हुए; हुआ तो शूद्र वर्ण ही विघटित हुआ। ऐसा क्यों हुआ?—इस प्रश्न पर सारा ब्राह्मण वाङ्मय मौन है—कोई कुछ बोलता ही नहीं।

वस्तुतः यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है जिसे मनु-स्मृतिकार ने भी स्वीकारा है कि सिन्धु घाटी सभ्यता के बाद के काल के भारत में आर्यों द्वारा युद्ध के समय बंदी बनाये गये मूल भारतीय द्रविड़ आदि शासक वर्ग के लोगों (जिन्हें दस्यु कहा गया था तथा जिन्हें आर्य व आर्य संस्कृति से बराबर संघर्षरत रहने के कारण बाद में राक्षस जाति की संज्ञा भी दी गयी थी), उदर-पूर्ति के लिए दासता स्वीकार करने वाले सामान्य जनों, आर्यों के घरों में पूर्व से ही कार्यरत दास-दासियों के पुत्रों, क्रय किये गये भृत्यों, उपहार या दान में मिले गुलामों तथा राजदण्ड से बचने के कारण व कर्ज चुकाने में असमर्थता के कारण बने सेवकों एवं वन-वासियों को शूद्र योनि में डाल दिया गया। इनके अतिरिक्त वैश्य वर्णीय जाति में से कमजोर व हल्का व्यवसाय करने वाले लोगों को उससे अलग कर शूद्र-वर्णीय जाति बना दिया गया जिसमें से बणजारा (वाणिज्य-कर्मी वणिक) जाति एक है।

समाज में ब्राह्मण जाति का वर्चस्व स्वीकार न करने के कारण तथा वैदिक कर्मकाण्डों को न अपनाने के कारण वैदिक काल, महाभारत काल तथा इसके बाद ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी तक रूढ़ ब्राह्मणों द्वारा प्राचीन क्षत्रिय जातियों को समय-समय पर क्षत्रियत्व से भ्रष्ट अथवा पतित किया जाता रहा। इसकी पुष्टि में मनुस्मृति के ये श्लोक द्रष्टव्य हैं—

"शनकैस्तु क्रियामालोपादिया: क्षत्रिय जातय: ।
वृषलत्वंगता लोके ब्राह्मण दर्शनेन च ।।
पौण्ड्रकाश्चौड्र द्रविड़ा: काम्वोजा यवन : शका: ।
पारदा: पल्हवाश्चीना: किरातादरदा: खशा:" ।।मनु./10/43

अर्थात् यज्ञ कराने, पढ़ाने, प्रायश्चित आदि कराने के निमित्त ब्राह्मण का दर्शन न होने से पौण्ड्रक, चौड्र, द्रविड़, काम्वोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश क्षत्रिय जातियाँ धीरे-धीरे उपनयन संस्कारों से भ्रष्ट होकर वृषलत्व को प्राप्त हो गयीं ।' इस सम्वन्ध में महाभारत के निम्नांकित श्लोक भी देखने योग्य हैं—

"शका-यवन-काम्वोजा पारदाश्च विशांपते ।
कोलि सर्पा समहिषा दार्वाश्चोला सकरेला ।।
सर्वे ते क्षत्रियस्तात धर्मस्तेषां निराकृत: ।
वशिष्ठ वचनाद्राजन्सगरेण महात्मना ।।"

इन श्लोकों में भी शक, यवन, काम्वोज, कोलि, सर्प (नाग), चोल, सकरेला आदि क्षत्रिय जातियों को धर्म से निकाल वाहर करने की वात कही गयी है । मनुस्मृति तथा महाभारत के इन श्लोकों में अन्तर यही है कि जहाँ मनुस्मृति में इन जातियों के वृषलत्व अर्थात् शूद्रत्व प्राप्त होने की वात कही गयी है वहाँ महाभारत के श्लोकों में इन्हें धर्म से निराकृत करने की वात कही गयी हैं । शक, यवन, काम्वोज तथा पारद जातियों का मनुस्मृति तथा महाभारत के श्लोकों में समान रूप से उल्लेख हुआ है ।

प्रसंगवश यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि जव मनुस्मृति के समय शक, यवन, काम्वोज तथा पारद जातियाँ धर्म-भ्रष्टता के कारण क्षत्रियत्व से वृषलत्व को प्राप्त हो गयी थीं तो उसके वाद महाभारत-काल में उन्हें फिर से क्षत्रियत्व से निराकृत करने की क्या आवश्यकता पड़ गयी थी ? दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि मनुस्मृति तथा महाभारत क्रमश: मनु महाराज एवं व्यास द्वारा प्रागैतिहासिक काल में ही लिख दिये गये थे तो क्या यवन, शक, पह्लव आदि विदेशी जातियाँ उस अति प्राचीन युग में ही भारत वर्ष में मौजूद थीं और क्षत्रियत्व को प्राप्त थीं ?

इन दोनों ही प्रश्नों के समुचित समाधान के लिए भारतीय इतिहास के प्रामाणिक पृष्ठों को पलट कर देखें । भारत पर यवन, शक और पल्हव आदि विदेशी जातियों के आक्रमण ई. पू. चौथी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ई. पू प्रथम शताब्दी के मध्य तक के काल में हुए थे और वहुत-से प्रदेशों को जीत कर उन्होंने अपने शासन भी स्थापित कर लिये थे । चन्द्रगुप्त मौर्य 323 ई. पू. के लगभग मगध का सम्राट वना था और उसने 298 ई. पू. तक राज्य किया था । यवन सिकन्दर तथा सैल्युकश ने क्रमश: चन्द्रगुप्त मौर्य के समय ही भारत पर आक्रमण

किये थे। वाद में 200 ई. पू. के लगभग सैल्युकश के वंशज एण्टिगोनस ने आक्रमण किया तथा वैक्ट्रिया के यवन राजा डेमट्रियस (दिमित्र) ने भी आक्रमण किया था। ई. पू. दूसरी सदी में उत्तर-पश्चिम भारत और पश्चिमी पंजाब यवनों की अधीनता में आ गये थे। मध्य ऐशिया में सीर नदी की घाटी के निवासी शकों ने भी इसी काल में आक्रमण कर सिन्धु, दक्षिणापथ तथा उत्तर-पश्चिमी भारत को अपनी अधीनता में लाने में सफलता प्राप्त की थी। यवन और शकों के समान पल्हव (पार्थियन) लोगों ने भी इस युग में भारत पर आक्रमण कर ई. पू. प्रथम शताब्दी के मध्य गान्धार में अपना एक पृथक राज्य स्थापित कर लिया था तथा यहीं बस गये थे। इस प्रकार भारत के सम्पर्क में आकर इन तथा अन्य विदेशी जातियों ने इस देश के धर्म, भाषा, सभ्यता तथा संस्कृति को अपना लिया था। वहुत-से विदेशियों ने तो अपने नाम भी भारतीय रखने प्रारम्भ कर दिये थे।* अतः यह ऐतिहासिक तथ्य है कि यवन, शक तथा पल्हव आदि विदेशी जातियों की प्रविष्टि ई. पू. चौथी शताब्दी से पूर्व नहीं हुई थी तथा इनके भारत में बस जाने एवं वर्चस्व प्राप्त कर लेने पर ही इन्हें तत्कालीन ब्राह्मणों ने क्षत्रियत्व प्रदान किया था। वहुत सम्भव है कि ये नये वने क्षत्रिय ही वाद में राजपूत जाति के नाम से प्रसिद्ध हुए। इससे पूर्व भारतीय इतिहास में राजपूत नाम की किसी जाति का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस सम्बंध में प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता रमेशचन्द्र दत्त अपनी पुस्तक Civilisation of Ancient India में लिखते हैं—"The Rajputs were scarcely reconed among Aryan Hindus before the eight Centuary. We find no mention of their name in the literature of the Country or in the record of foreign travellers and no traces of their previous Culture... .." प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनत्सांग ने ईसा की छठी सदी में सम्राट् हर्षवर्धन के शासन काल में भारत की यात्रा की थी।

मनु व महाभारत की घटना के प्रागैतिहासिक काल में ये यवन, शक तथा पल्हव आदि जातियाँ भारत में मौजूद ही नहीं थीं। अतः यह स्पष्ट है कि ये दोनों ही ग्रंथ गौतम बुद्ध के बहुत वाद में लिखे गये थे क्योंकि तत्कालीन बौद्ध-ग्रंथों में न तो मनुस्मृति का और न ही महाभारत का उल्लेख मिलता है। लगता है मनु महाराज के नाम से मनुस्मृति एवं व्यास के नाम से महाभारत किन्हीं वाद के लोगों द्वारा लिखे गये हैं अथवा इन नामों के किन्हीं दूसरे ही व्यक्तियों ने ये ग्रंथ लिखे हों। प्रलय-काल के वैवस्वत मनु तथा पराशर-पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास से इनका सम्बंध नहीं था।

जहाँ तक महाभारत के उक्त श्लोकों में कोलि जाति के भी क्षत्रियत्व से निराकृत किए जाने का प्रश्न है—हम इस सम्बन्ध में यह कहना चाहेंगे कि यह

* देखिये सत्यकेतु विद्यालंकार कृत 'भारतीय संस्कृति का विकास' संस्करण 1979 पृष्ठ 136 से 139

जाति बौद्ध-काल में क्षत्रिय के रूप में प्रतिष्ठापित थी। शाक्यों तथा भगवान् गौतम बुद्ध से सम्बन्धित होने के कारण तत्कालीन अन्य क्षत्रिय यथा—मौर्य, लिच्छवि, वृज्जि, मल्ल, बुलिय आदि जातियों के साथ उसने भी बुद्ध के मार्ग का अनुसरण किया था। अत: इसी कारण इस क्षत्रिय कोलि जाति को भी ब्राह्मण धर्म की पुन: स्थापना होने पर क्षत्रियत्व से निराकृत कर दिये जाने की बात तो समझ में आती है किन्तु इसका तो सीधा मतलब यह होगा कि महाभारत अथवा उसका यह अंश बौद्ध-काल के बाद ही रचा गया था।

मनुस्मृति के काल के बारे में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार द्रष्टव्य हैं। उनके अनुसार "सन् ईसवी की पाँचवीं शताब्दी में पुराण तैयार हो चुके थे यद्यपि बाद में भी उनमें प्रक्षेप होता रहा।....स्मृतियाँ ऊपर बताये हुए पुराण काल में ही अधिकतर लिपिबद्ध हुईं। सन् ईसवी के पहले इस प्रकार की स्मृतियाँ तैयार हो गयी थीं। मानव-धर्मशास्त्र या मनु-स्मृति इन्हीं स्मृतियों के निचोड़ का संग्रह है।"[1] इसी प्रकार महाभारत के सम्बंध में डॉ. द्विवेदी ने प्रोफेसर विण्टरनित्ज के द्वारा निकाले गये निष्कर्षों को उद्धृत किया है जिनमें निष्कर्ष संख्या 5 से 8 के मुताबिक "ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी से पहले महाभारत-काव्य के अस्तित्व का कोई निश्चित् प्रमाण नहीं पाया जाता। सन् ई. के पूर्व की चौथी शताब्दी से लेकर ई. सन् के बाद की चौथी शताब्दी तक महाभारत बनता और संग्रहीत होता रहा। सम्भवत: क्रमश: ही इसने वर्तमान रूप धारण किया था। ई. सन् की चौथी शताब्दी में महाभारत ने सब मिला कर यह वर्त्तमान रूप धारण कर लिया था। बाद की शताब्दियों में भी छोटे-मोटे आख्यान और फुटकर श्लोक, कुछ-न-कुछ मिलते ही रहे।[2]

इस सारे विश्लेषण का यहाँ एक ही अर्थ है कि भारत की प्राचीन क्षत्रिय जातियों में से प्राय: सभी को ब्राह्मण जाति की नाराज़गी तथा कोप के कारण सन् ईसवीं की चौथी शताब्दी के बाद तक समय-समय पर क्षत्रियत्व से निराकृत किया जाता रहा। किन्तु इन निराकृत क्षत्रियों ने अपना प्रतिरोध जारी रखा और वे वर्ण-व्यवस्था से बाहर रह कर भी किसी तरह अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रहीं। वे शूद्र वर्ण में किसी भी कीमत पर सम्मिलित नहीं हुईं।

यदि हम सम्पूर्ण भारत की तत्कालीन कुल जन-संख्या पर निष्पक्ष दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि उस समय शूद्र वर्ग की जन-संखया उसका लगभग तीन-हिस्सा थी। इस पर वर्ण-व्यवस्था से अपने आपको स्वतंत्र रखने वाली क्षत्रियत्व से च्युत प्राचीन आर्य जातियों के लोगों की संख्या अलग थी। प्रारम्भ में बाहर से आक्रमण-कारियों के रूप में अधिक लोग नहीं आये थे तथा जो आये थे वे भी

[1]हिन्दी साहित्य की भूमिका, संस्करण 1963, पृष्ठ 131
[2]वही पृष्ठ 144

कई समूहों में आये थे। इसलिए भारत के मूल निवासियों को वे पराजित कर पूर्ण वर्चस्व में तो आ गये थे फिर भी वे अपनी जन-संख्या बहुत अधिक नहीं बढ़ा सके थे—यहाँ तक कि उन्होंने इसके लिए शंकर विवाह भी मूल निवासियों की स्त्रियों के साथ किये। उनकी जो भी जनसंख्या थी उसमें से भी कुछ को क्षत्रियत्व से निराकृत कर देने के कारण वह और भी कम हो गयी। फलस्वरूप ब्राह्मण, बचे हुए तथा नये बने क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के लोगों की संख्या कुल जनसंख्या की एक-चौथाई ही थी और इन तीनों उच्च वर्णों में से प्रत्येक की अलग-अलग जनसंख्या तो कुल भारतीय जनसंख्या की लगभग दस प्रतिशत के बराबर ही थी। अतः इन तीनों ही उच्च वर्णीय लोगों को अपनी अल्प संख्या का अवश्य ही ज्ञान रहा होगा। साथ ही शूद्र वर्णीय बहु संख्यक लोगों की भविष्य में पैदा होने वाली एकता तथा संगठन की भावना का खतरा भी उनकी चिन्ता का विषय रहा होगा। अतः शूद्र वर्ण की इस विशाल जनता को तोड़ने की गरज से उसे अलग-अलग अनेक जातियों व उप-जातियों में विभक्त कर दिया गया और क्षत्रियत्व से निष्काषित प्राचीन आर्य जाति के लोगों को भी उनसे अलग-थलग रखा गया। इनमें से कुछेक जातियों तथा उप-जातियों के प्रति तो इन्होंने कुछ अपनापन प्रदर्शित किया और उन्हें अपने निकट रखा। किन्तु शेष अन्य बहुसंख्क जातियों-उपजातियों को बिल्कुल ही तिरस्कृत एवं उपेक्षित कर उन्हें गर्हित जीवन जीने के लिए विवश कर दिया। उनमें भी परस्पर छूआ-छूत तथा ऊँच-नीच की भावना के बीज बो दिये गये। अतः इस सारे प्रकरण में सोचे-समझे गये जातिगत षड्यन्त्र की बू आती है।

इस सम्बंध में मुझे अपने शासकीय सेवा-काल की एक घटना याद आती है। उन दिनों में अलवर में पद-स्थापित था। वहाँ के अनुसूचित जाति तथा जन-जाति के अधिकारी वर्ग ने बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर के महापरि निर्वाण दिवस पर एक विचार-गोष्ठी का आयोजन किया था। गोष्ठी जन-सम्पर्क कार्यालय के सभागार में रखी गयी थी। मुझे मुख्य अथिति के रूप में आमंत्रित किया गया था और भारतीय वन-सेवा के एक वरिष्ठ अधिकारी को उसकी अध्यक्षता का भार सौंपा गया था। गोष्ठी में जिले के सभी छोटे-बड़े पत्रकार, महाविद्यालयों के आचार्य तथा व्याख्याता गण, विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रतिनिधिगण, अभि-भाषकगण, सभी विभागों के अधिकारीगण एवं नगर के अन्य प्रतिष्ठित जन उपस्थित थे। खचाखच भरे सभागार में एक अधेड़ उम्र के अनुभवी अभिभाषक जी ने भी अपने विचार व्यक्त किये। उन्होंने प्रश्न उठाया कि जब अनुसूचित जाति तथा जन-जातियाँ परस्पर एक दूसरे से अलगाव रखती हैं और छूआछूत करती हैं तो ऐसी स्थिति में इन जातियों के लोग समाजगत रूप से उच्च वर्णीय जातियों से ऊँच-नीच की भावना समाप्त करने की अपेक्षा कैसे रखते हैं? पहले तो उन्हें अपने स्तर पर परस्पर जातिगत ऊँच-नीच का भेद एवं अस्पृश्यता मिटा कर समानता

तथा रोटी - बेटी का व्यवहार कायम करना चाहिए। स्वयं तो समाचरण बरतें नहीं और अन्यों से वैसा चाहें—तो यह कैसे हो सकता है ?

अभिभाषक जी का यह प्रश्न शत-प्रतिशत सही व तर्क-सम्मत था और अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लोगों के लिए सामाजिक स्तर पर एक चुनौती भी था। परन्तु लाख कोशिश की जाये और लाख कड़े-से-कड़े कानून बना दिये जायें तो भी ऊँच-नीच का भेद-भाव तथा छूआछूत की मानसिकता भारतीय हिन्दू समाज से नहीं जा सकती—न तो शूद्र वर्णीय अनुसूचित जातियों व जन-जातियों के बीच से और न ही उनके प्रति इतर उच्च वर्णीय जातियों के मस्तिष्क से। यह मानसिकता कैसे समाप्त हो—इस प्रश्न पर अभिभाषकजी ने कोई विचार अथवा सुझाव व्यक्त नहीं किये।

असल में जब तक भारतीय हिन्दू समाज में वर्णगत जातियाँ रहेंगी और जब तक वे धर्म की आड़ में सम्पुष्ट होती रहेंगी तब तक उनसे जुड़ी बुराइयाँ भी कायम रहेंगी। कारण है तो कार्य अवश्य रहेगा। यह नहीं हो सकता कि शरीर में रोगाणु तो हों और रोग न हो। अतः समाज संशोधकों को एक वैद्य अथवा चिकित्सक की तरह रोग की जड़ वर्ण तथा वर्णगत जाति-व्यवस्था पर ही कुठाराघात करना पड़ेगा। तभी समाज स्वस्थ होगा, उसमें घर कर गई ऊँच-नीच तथा अस्पर्श्यता की भावना समाप्त होगी और एकता व सुगठता स्थापित हो सकेगी। वर्णगत जाति-व्यवस्था इन्हीं उच्च वर्णीय जातियों, विशेषकर ब्राह्मण वर्णीय जाति ने बनायी है, अतः इसे मिटाने का उत्तरदायित्व भी उन्हें ही वहन करना होगा। इस उत्तरदायित्व को शूद्र वर्णीय जातियों पर छोड़ कर इस तरह पल्ला झाड़ने से काम नहीं चलेगा। समाज में गरीब तथा अमीर तो होंगे पर उच्च वर्ण-निम्न वर्ण तथा उच्च वर्णीय जाति—निम्न वर्णीय जातियों के लेबल को हटाना होगा अन्यथा वर्ण तथा वर्ण-जन्य जाति व्यवस्था के रोगाणु समाज को निरन्तर कमजोर बनाते चले जायेंगे जिसका अन्तिम परिणाम आज नहीं तो कल बहुत भयंकर होगा।

—※—

गालब--'ए दिले नादां !'

□ डॉ. चमनलाल रैणा, अजमेर

[डॉ.चमनलाल रैंणा का जन्म कश्मीर में सन् 1940 ई. में हुआ। माता से उर्दू में तथा पिता से संस्कृत में प्रशिक्षण लिया। शिक्षा में अदीवे-कामिल अलीगढ़ से, एम.ए. हिन्दी एवं अंग्रेजी कश्मीर विश्वविद्यालय से तथा पी.एच.डी.इकबालियात पर की। आप पद्म भूषण प्रो. आले अहमद सरुर,जो उर्दू के विश्वविख्यात समालोचक हैं, के शागिर्द हैं; काश्मीर विश्व विद्यालय में भारतीय विद्या पर शोध कार्यरत रहे हैं। उन्हें खुदा बखश पब्लिक लाइब्रेरी से फेलोशिप, नागमणी फेलोशिप एवं वर्ल्ड बुद्धिस्ट फेलोशिप प्रदान की गई हैं।—सम्पादक।]

"दिले नादां ! तुझे हुआ क्या है ? आखिर इस दर्द की दवा क्या है ?
हम हैं मुश्ताक और वो बेजार या इल्लाही ! यह माजरा क्या है ?
मैं भी मुँह में जुवां रखता हूं काश ! पूछो कि माजरा क्या है ?
जब कि तुम बिन नहीं कोई मौजूद फिर यह हंगामा-ए-खुदा क्या है ?
यह परी चेहरा लोग कैसे है ? ग़मज़दा-ओ इश्वह-ओ अदा क्या है ?
शिक्ने-जुलफे अंबरीं क्यों हैं ? निग्हे-चश्मे सुरमा-सा क्या है ?
सब्ज़-ए-व गुल कहां से आए हैं ? अब्र क्या चीज़ है ? हवा क्या है ?
हम को उनसे वफा की है उम्मीद जो नहीं जानते, वफ़ा क्या है ?
हाँ भला कर तेरा भला होगा और दरवेश की सदा क्या है ?
जान तुम पर निसार करता हूं मैं नहीं जानता दुआ क्या है ?
मैंने माना कि कुछ नहीं गालिब मुफ्त हाथ आए तो बुरा क्या है ?"

भाव, राग और ताल से बनी हुई सम्पूर्ण चेतना भारत की काव्यमयी धारा है। यह निनाद है—संगीत का, अभिव्यक्ति है अंतःप्रेरणा की, मनुष्य की आवाज में प्रभु की अभिव्यक्ति है। प्रभु प्रभुत्व पूर्ण है, जिसमें किसी भी वस्तु की कमी नहीं। प्रभुत्व में सांसारिक भोग भी है और योग के पटल भी। इसी कड़ी में भारत की भूमि में शायरे-दरवेश गालिब भी पैदा हुए। उनकी शायरी में स्फुरण है, शृंगार है, सत्य की खोज है। सच्चाई के साथ-साथ शारीरिक एवं मानसिक अभी-प्साएं भी। 'ए दिले नादां' ! उनकी जानी-मानी काव्यानुभूति है जिसमें—भावनाओं की ऐसी तरलता है, जहां इष्ट को पाना ही कवि का कर्त्तव्य है। कवि के मन में मुश्ताकी है—वह चाहता है असीम के साथ मिलना, जिसमें अनुष्ठानों की कोई आवश्यकता नहीं है। जीव और जगत् का प्रभु के साथ गहरा सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध की खोज में गालिब ने 'या इल्लाही ! यह माजरा क्या है ?' प्रभु को जगत् रचने की क्यों आवश्यकता पड़ी, इसी की फिक्र में गालिब का हुस्ने-कलाम पाया जाता है। प्रभु सर्व शक्तिमान है, वह अल्लाह है—नाम और गुणों से युक्त नूर है। इसी नूर को जानने के लिए गालिब बेताब है। 'हंगामा-ए-खुदा' अनन्त में

भी है, कण में भी। अणु से महान् तक की यात्रा चेतना की ही यात्रा है।

जीव और जगत् का वास्तविक सौंदर्य आन्तरिक भी है और बहिर भी, परन्तु मनुष्य का रूप-लावण्य सृष्टि की रचना में सहायक सिद्ध हो सकता है। ऐसा गालिब ने माना है। 'शिक्ने-जुल्फ' इस सिद्धान्त का प्रतीक है, जिसमें रूप-गुण-आकार की करिश्माई किरणों की समावेश है। 'सब्ज्-ए-गुल' अर्थात् प्रकृति का निखार और 'अब्र' ब्रह्माण्ड का सौम्य रूप आंखों में अपनी महक देने के लिए विश्वात्मा का प्रतीक है।

'दरवेश की सदा'—सन्तवाणी में शक्ति है, क्योंकि वे जीवन की शुष्कता से ऊपर उठकर कार्योत्सर्ग में पदार्पण कर सकते हैं। 'हे प्रभु ! हे मालिके कुल ! मेरा सर्वस्व तू ही है और कुछ नहीं, अतः किससे दुआ की अभीप्सा करूँ, या दुआ के लिए प्रेरित करूँ, जिधर देखा जाए उधर प्रभु दर्शन ही हों'—ऐसे भाव गालिब के के अन्तःकरण के हैं। उनकी शायरी दिल से जुड़ी हुई है।

गालिब की शायरी के पटलों में इंसान, मानव जाति और इंसान की दोस्ती सौहार्द की मिसाल है, जिससे कायनात-सृष्टि के ज़र्रे-ज़र्रे में विश्वरूप की अमिट छाप मिलती है। रूहे-इंसान जीवात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना मानव की अभीप्सा है। परन्तु गालिब के दृष्टिकोण में वास्तव में शून्यावस्था भी एक अवस्था है, जो शून्यागार से बाहर आकर परिपूर्णता की ओर जाती है।

——

गालब--'ए दिले नादां !'

☐ डॉ. चमनलाल रैणा, अजमेर

[डॉ.चमनलाल रैंणा का जन्म कश्मीर में सन् 1940 ई. में हुआ। माता से उर्दू में तथा पिता से संस्कृत में प्रशिक्षण लिया। शिक्षा में अदीबे-कामिल अलीगढ़ से, एम.ए. हिन्दी एवं अंग्रेजी कश्मीर विश्वविद्यालय से तथा पी.एच.डी.इकबालियात पर की। आप पद्म भूषण प्रो. आले अहमद सरुर,जो उर्दू के विश्वविख्यात समालोचक हैं, के शागिर्द हैं; काश्मीर विश्व विद्यालय में भारतीय विद्या पर शोध कार्यरत रहे हैं। उन्हें खुदा वखश पब्लिक लाइब्रेरी से फेलोशिप, नागमणी फेलोशिप एवं वर्ल्ड बुद्धिस्ट फेलोशिप प्रदान की गई हैं।—सम्पादक।]

"दिले नादां ! तुझे हुआ क्या है ? आखिर इस दर्द की दवा क्या है ?
हम हैं मुश्ताक और वो वेजार या इल्लाही ! यह माजरा क्या है ?
मैं भी मुँह में जुवां रखता हूं काश ! पूछो कि माजरा क्या है ?
जव कि तुम बिन नहीं कोई मौजूद फिर यह हंगामा-ए-खुदा क्या है ?
यह परी चेहरा लोग कैसे है ? ग़मज़दा-ओ इश्वह्-ओ अदा क्या है ?
शिक्ने-जुलफे अंवरीं क्यों हैं ? निग्हे-चश्मे सुरमा-सा क्या है ?
सब्ज़्-ए-व गुल कहां से आए हैं ? अब्र क्या चीज़ है ? हवा क्या है ?
हम को उनसे वफा की है उम्मीद जो नहीं जानते, वफ़ा क्या है ?
हाँ भला कर तेरा भला होगा और दरवेश की सदा क्या है ?
जान तुम पर निसार करता हूं मैं नहीं जानता दुआ क्या है ?
मैंने माना कि कुछ नहीं गालिव मुफ्त हाथ आए तो वुरा क्या है ?"

भाव, राग और ताल से वनी हुई सम्पूर्ण चेतना भारत की काव्यमयी धारा है। यह निनाद है—संगीत का, अभिव्यक्ति है अंतःप्रेरणा की, मनुष्य की आवाज में प्रभु की अभिव्यक्ति है। प्रभु प्रभुत्व पूर्ण है, जिसमें किसी भी वस्तु की कमी नहीं। प्रभुत्व में सांसारिक भोग भी है और योग के पटल भी। इसी कड़ी में भारत की भूमि में शायरे-दरवेश गालिव भी पैदा हुए। उनकी शायरी में स्फुरण है, शृंगार है, सत्य की खोज है। सच्चाई के साथ-साथ शारीरिक एवं मानसिक अभीप्साएं भी। 'ए दिले नादां' ! उनकी जानी-मानी काव्यानुभूति है जिसमें—भावनाओं की ऐसी तरलता है, जहां इष्ट को पाना ही कवि का कर्त्तव्य है। कवि के मन में मुश्ताक़ी है—वह चाहता है असीम के साथ मिलना, जिसमें अनुष्ठानों की कोई आवश्यकता नहीं है। जीव और जगत् का प्रभु के साथ गहरा सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध की खोज में गालिव ने 'या इल्लाही ! यह माजरा क्या है ?' प्रभु को जगत् रचने की क्यों आवश्यकता पड़ी, इसी की फिक्र में गालिव का हुस्ने-कलाम पाया जाता है। प्रभु सर्व शक्तिमान है, वह अल्लाह है—नाम और गुणों से युक्त नूर है। इसी नूर को जानने के लिए गालिव वेताव है। 'हंगामा-ए-खुदा' अनन्त में

भी है, कण में भी। अणु से महान् तक की यात्रा चेतना की ही यात्रा है।

जीव और जगत् का वास्तविक सौंदर्य आन्तरिक भी है और वहिर भी, परन्तु मनुष्य का रूप-लावण्य सृष्टि की रचना में सहायक सिद्ध हो सकता है। ऐसा गालिब ने माना है। 'शिक्ने-जुल्फ' इस सिद्धान्त का प्रतीक है, जिसमें रूप-गुण-आकार की करिश्माई किरणों की समावेश है। 'सब्ज़-ए-गुल' अर्थात् प्रकृति का निखार और 'अब्र' ब्रह्माण्ड का सौम्य रूप आंखों में अपनी महक देने के लिए विश्वात्मा का प्रतीक है।

'दरवेश की सदा'—सन्तवाणी में शक्ति है, क्योंकि वे जीवन की शुष्कता से ऊपर उठकर कार्योत्सर्ग में पदार्पण कर सकते हैं। 'हे प्रभु ! हे मालिके कुल ! मेरा सर्वस्व तू ही है और कुछ नहीं, अतः किससे दुआ की अभीप्सा करूँ, या दुआ के लिए प्रेरित करूँ, जिधर देखा जाए उधर प्रभु दर्शन ही हों'—ऐसे भाव गालिब के अन्तःकरण के हैं। उनकी शायरी दिल से जुड़ी हुई है।

गालिब की शायरी के पटलों में इंसान, मानव जाति और इंसान की दोस्ती सौहार्द की मिसाल है, जिससे कायनात-सृष्टि के ज़र्रे-ज़र्रे में विश्वरूप की अमिट छाप मिलती है। रूहे-इंसान जीवात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना मानव की अभीप्सा है। परन्तु गालिब के दृष्टिकोण में वास्तव में शून्यावस्था भी एक अवस्था है, जो शून्यागार से वाहर आकर परिपूर्णता की ओर जाती है।

——

कश्मीर की ज्ञान योगिनियां

— पंडित जगन्नाथ सिब्बू, मुम्बई

[पंडित जगन्नाथ सिब्बू राजकीय ओरियन्टल कॉलेज, श्रीनगर में संस्कृत विभाग के विभागाध्यक्ष रह चुके हैं। आपने 'कश्मीर शाक्त विमर्श' नाम की पुस्तक लिखी है जो केन्द्रीय सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा 1988-89 ई. में पुरस्कृत की गई है। कश्मीर के शैव एवं शाक्त दर्शन पर मौलिक लेख लिखे हैं और इस वृद्धावस्था में भी साहित्य-सेवा में रत है। —सम्पादक]

कश्मीर में समय-समय पर ऐसे अनेक संत साधक हुए हैं जिन्होंने धर्म संकट के समय भ्रांत जनता को सच्चे ज्ञान का मार्ग दिखाया है। क्योंकि समय-समय पर विचार धारणाएँ एक जैसी नहीं रहती हैं अतः धार्मिकक्रांतियाँ होती रहती हैं जिसके कारण धार्मिक परिपाटी वदलती रहती है।

ग्यारहवीं शताब्दी में इस्लाम आने से धार्मिक क्रान्ति आरंभ हो गई जो राजाश्रय पाकर फलती-फूलती गई और सगुण (मूर्ति उपासना) के स्थान पर निर्गुण-निराकार उपासना का स्थायी स्वामित्व हुआ जिससे यहां की सनातन धर्म प्रेमी जनता धर्म संकट में पड़ी। इस विषम समय में समन्वयकारी ऐसे नेता की आवश्यकता थी जो दोनों धर्मों में मेल कर सके। दैवयोग से ठीक इसी समय कश्मीर में लल्लेश्वरी ने जन्म लिया। उन्होंने वेदान्त और शैव का आश्रय लेकर अद्वैत की ऐसी राग गाई जिससे दोनों का मधुर मिलन हुआ। क्योंकि दोनों निर्गुण, सगुण उपासनाओं में पूर्ण निष्ठा या आस्था की आवश्यकता है, पूर्ण निष्ठा ही भाव है, जिससे श्रद्धा उत्पन्न होती है, जिससे ईश्वर प्राप्ति होती है, अतः साकार निराकार की कोई वाधा नहीं रही। इस तरह समन्वय होने पर दोनों सम्प्रदायों का वैषम्य दूर हो गया।

पर इस विचार धारा को वरकरार रखने की भी जरूरत थी। दैवयोग से 1677 विक्रमी में श्री माधवजू दर के यहाँ श्री अलख ईश्वरी रूपाभवानी ने जन्म लिया और आगे चलकर कुछ बड़ी होने पर गृहस्थ के जंजाल को छोड़ कर उसने भी श्री लल्लेश्वरी का अनुसरण करके अद्वैत मार्ग (अलख) अपनाया और अपने अनुयायियों को भी इसी मार्ग का ज्ञान दिया।

पवित्र ज्ञानदीप उनका 'रूपाभवानी रहस्य उपदेश' है जिसमें सर्व प्रथम (1) निर्वाण दशश्लोकी में मानव जीवन का परम लक्ष्य आवागमन से छुटकारा पाना है, जो ज्ञान प्राप्ति से मिलता है। अतः हर किसी का ज्ञान प्राप्ति करना आवश्यक है कि 'मैं क्या हूं' ?

(2) वाक्य-मंजरी में साधक अपने क्रिया-कलापों में शुद्ध वासनाओं के विषय में स्थिर बुद्धि हो, जिसमें पूर्ण समर्पण भाव हो—ऐसा कहा है।

(3) स्वानुभवोल्लास में मनुष्य वास्तव में ब्रह्म स्वरूप 'सोहम्'है परन्तु उसके लिए उसे साधना की बड़ी आवश्यकता है।

(4) अंतर-दृष्टि में उन्होंने कहा है कि मैंने योग-साधना में जो कुछ भी प्रयास किया है वह सारा सफल हुआ, उसी के फलस्वरूप मैंने ब्रह्म-पद पाया। अतः मेरा कोई भी प्रयास विफल नहीं हुआ अपितु सव सफल हुआ। उनकी ही उक्ति है—

"दीह उन्तर सुषुप्त सऽवुम
जगऽवुम तुरीया आये।
अनाहत आनन्द खिलोवुम
मिलीवुम अनागय चित्थे।
तत्रूप म्य पान ललावुम
ब्व छस सऽव किह रोवुम न ये।"

इस तरह उन्होंने कश्मीरी भाषा में अलख रहस्योपदेश द्वारा विना जाति, धर्म, सम्प्रदाय अपनी साधना का पूर्ण विवरण देते हुए मनुष्य मात्र को यह संदेश दिया है कि तुम केवल हाड-माँस के पुतले नहीं हो, अपितु "तत्वमसि" तुम साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हो। तुम ज्ञान के द्वारा अपने आपको पहचानो और मोक्ष का मार्ग अपनाओ। उन्होंने स्वयं कहा है—

"त्रवित गट सरिथ गाशस वायस"

'मैंने अज्ञान का मार्ग छोड़कर ज्ञान प्रकाश को अपनाया और ब्रह्म में लीन हो गई।' इसी प्रकार हर किसी मनुष्य को अज्ञान को छोड़कर ज्ञान को अपनाना चाहिये जिससे उसका आत्मज्ञान हो जाए कि मैं हाड-माँस का पुतला ही नहीं अपितु आत्म-स्वरूप ब्रह्म हूं। परन्तु ये विचार ज्ञान के विना पाये नहीं जाते। उन्होंने स्वयं कहा है—

"करि सूर्य उदय चलि गट कारय
सहज विचारय तथ सार भूत।"

यह सहज विचार ही परम ज्ञान है जो आवागमन से छुटकारा देने का साधन है।

ज़िन्दगी : मौत से गुजरने की प्रक्रिया

—धम्मप्रिय बी. एस. सहवाल, अजमेर

मैं मृत्यु से ज़िन्दगी की ओर
नहीं जाना चाहता
क्योंकि मृत्यु का अन्त कभी नहीं होता,
ज़िन्दगी का अन्त हमेशा ही हो जाता है;
देखते-ही-देखते जीने का हौंसला
न जाने कहाँ खो जाता है।
तुम मुझे मृत्यु से डराओ मत,
ज़िन्दगी की मृग-तृष्णा में भरमाओ मत,
क्योंकि मैं समय के पार वाले
उस रास्ते पर बढ़ चला हूं
जो किसी मंजिल तक नहीं जाता;
शून्य में कुछ भी हाथ नहीं आता।
मैं ज़िदगी से बहुत प्यार करता हूं,
और इसका दम भी भरता हूं;
पर सच मानो
ज़िन्दगी किसी की सगी नहीं है;
सारे रिश्तों को तोड़ कर
अपनो को छोड़ कर
न जाने कहाँ चली जाती है,
मुड़ कर देखती भी नहीं।
इसका मतलब यह नहीं है
कि मैं ज़िन्दगी जीता ही नहीं हूं
हाँ, जीता हूं, खूब जी भर कर जीता हूं;
दरअसल ज़िन्दगी क्षण-प्रति-क्षण
मृत्यु से गुजरने वाली प्रक्रिया का नाम है।

—:—

न जाने क्यों ?

—आकाश सूर्यवंशी, अजमेर

लगता है खेत पहले जैसे नहीं लहलहाते
पाँखियों का कलरव भी न जाने कहाँ खो गया है
आँगन में खड़ा नीम भी अब उदास है
सूखे कुए पर पनिहारिन की जगह प्यास बैठी है
सूना-सा मन लिये;
फिर भी खेत की मुँडेर पर बैठा मन
तुम्हारी पायल के स्वर सुनने को आतुर है
न जाने क्यों ?

लगता है झूठे सपने सँजोता रहा हूं मैं
वर्षा की बून्दों का रिमझिम संगीत भी
अब खयालों की बात बन गया हैं,

उजाड़ आँखों की गहरी प्रतीक्षा अब बूढ़ी हो चली है;
फिर भी खेत की मुँडेर पर बैठा मन
तुम्हारी कोयल-सी कूँ-कूँ सुनने को आतुर है
न जाने क्यों ?

लगता है अब मैं वह नहीं रह गया हूं
जिसे देखा था तुमने बहुत पहले
बरसते सावन की इन्द्रधनुषी फुहारों में
तब मैं युवा था;
एक अरसा गुजर गया है तब से
मेरी उम्र काफ़ी ढ़ल चुकी है;
फिर भी खेत की मुँडेर पर बैठा मन
तुम्हारे दिल की संजीदा धड़कन सुनने को आतुर है
न जाने क्यों ?

——

पुस्तक-समीक्षा

—मञ्जु श्री, दिल्ली

पुस्तक : मंगल परिणयन; लेखक : बी. एस. सहवाल;
प्रकाशक : धम्म-दीप प्रकाशन, अजमेर; संस्करण: 1999

—×—

'मंगल परिणयन' श्री बी. एस. सहवाल द्वारा अपनी पुत्री के शुभविवाह के अवसर पर रचित, प्रकाशित एवं वितरित एक लघु पुस्तिका है। इसमें कुछ कविताएँ है और दो छोटे-छोटे लेख हैं। प्रारम्भ में धम्म-गीत से संकलित पालि भाषा के हिन्दी अनुवाद सहित कुछ सूत्र हैं।

बेटी के प्रति उसके पितामह, चाचा-चाची, मामा-मामी, बुआ-फूफा गणों के मंगलमय आशीर्वाद तथा कामनाओं के सरल उद्‌गारों को श्री सहवाल द्वारा काव्यमय अन्विति दी गयी है। बेटी कलेजे का कौर होती है। उसे बड़े दुलार से पाला-पोषा तथा शिक्षित-दीक्षित किया जाता हैं—और एक दिन विवाह होने पर वही परायी हो जाती है—अपने ससुराल चली जाती है। यही विधान है बेटियों के लिए—

'बेटी भी क्या बेटी है,
कोयल-सा मन बहलाती;
फिर सोनचिरैया बन कर
वह बगिया से उड़ जाती।'

श्री सहवाल ने बेटी के लिए उसके सभी भाई-भावजों तथा बहिन-बहनोई की ओर से प्रकट मंगल कामनाओं को भावाद्रता के साथ छन्दोवद्ध किया है। ये छन्द देखिए—

"हर पल प्रज्ञा से पूरित,
हर पल शुभ शील भरा हो;
ओ, बहिना ! तेरा हर पल,
हर क्षण बस हरा-भरा हो।"

× × ×

"कैसे टूटेगा माँ के
आँचल का यह अपनापा;
निज अश्रु विदाई क्षण में
रोकेंगे कैसे पापा ?"

इस पुस्निका में बुआ के छोटे भाई तथा नन्हें-नन्हें भतीजे-भतीजियों की भोली-भाली बातों को भी छन्दाया गया है। माँ की अनुकृति-प्रतिकृति होती है

बेटी। इसलिए वह अपनी आत्मा की छाया देखना चाहती है अपनी बेटी में और सीख देती है—

"हमारी अभिलाषा, विश्वास
टिका है तुम पर बेटी ! आज;
बढ़ा देना उस कुल का मान,
बचा लेना इस कुल की लाज।"

एक माँ इस अवसर पर इससे अधिक भाव-दान और कर भी क्या सकती है। और पिता का मन तो इस अवसर पर और भी भावुक हो उठता है। पर यहाँ तो श्री सहवाल पिता ही नहीं, कवि भी हैं। देखिए उनके उद्‌गारों की एक झलक—

"तुम न जाने कब बड़ी होती चली गयी
मुझे पता ही न चला
कभी समय ही न मिला
तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा को विधिवत् रूप से देखने का।
और तुम मेरी बच्चों-जैसी हरकतों को देख कर
दादी-माँ की तरह डाँटती ही रही
बाँटती ही रही
मेरा सुख—मेरा दुःख;
मेरे जीवन-भर की दार्शनिकता
इतनी जल्दी सीख गयी !"

इस अवसर पर अपने जामाता को कवि श्री सहवाल लेखनी की दार्शनिक ऊँचाइयों पर ले जाकर आश्वस्त करता है—

"अपनी सम्यक् ऊर्ध्विता में
ऊर्जा
बन जाती है वरदान;
कल्याण का मार्ग इसी से प्रशस्त होता है।"

समधी का अर्थ 'सम-बुद्धि' और समधन का अर्थ 'सम-ऋद्धि' करते हुए उनसे अपेक्षा की गई है—

"सम्बन्धों की इसी मनोहारी व्याख्या के तहत
सौंपते हैं हम आपको
अपनी 'धी'—अपना अमूल्य 'धन'
आप इसकी रक्षा करना
माता-पिता का स्नेह देना।"

इस संग्रह में सुश्री वृजेश कंवर द्वारा रचित एक कविता—'प्रणय का बंधन' भी सम्मिलित है।

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का द्वारा लिखित दो लघु लेख—'आदर्श गृहस्थ' तथा 'शीलवती गृहणी'—क्रमश: कोलिय-पुत्र दीर्घजाणु तथा विशाखा को दिये गये गृहस्थोपयोगी उपदेश हैं। सभी दृष्टियों से यह पुस्तक बेटी के विवाह के अवसर पर भेंट स्वरूप एक अनुपम पुष्प-गुच्छ है। शायद भारत भर में यह एक अनुकरणीय प्रथम प्रयास है।

——

कुछ खास खबरें

केरल उच्च न्यायालय द्वारा पारित निषेध-आदेश के मुताबिक केरल राज्य में सार्वजनिक स्थानों पर अब कोई भी व्यक्ति बीड़ी-सिगरेट आदि धूम्रपान नहीं कर सकेगा। इस आदेश को तुरन्त प्रभाव से लागू करने के लिए उच्च न्यायालय ने जिला अधिकारियों को निर्देश दिये हैं।

बुक-पोस्ट

सेवा में

....

....

....

मुद्रक, प्रकाशक, स्वामी बी.एस. सहवाल की ओर से अरावली प्रिंटिंग प्रेस झलकारी नगर, अजमेर में मुद्रित तथा 43/2117 सम्मादिट्ठि, धोलाभाटा (निराला नगर) कॉलोनी, अजमेर से प्रकाशित।

सम्पादक—बी. एस. सहवाल